॥ श्रीहरिः ॥

407

भगवत्प्राप्तिकी सुगमता

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
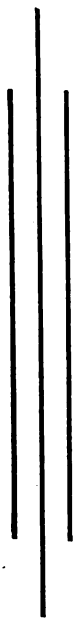
स्वामी रामसुखदास

प्रकाशक—गोविन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०४४ से २०४८ तक ३५,०००
सं० २०५० चतुर्थ संस्करण १५,०००
कुल ५०,०००

मूल्य—चार रुपये पचास पैसे

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा दिये गये कुछ प्रवचनोंका संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है ! ये प्रवचन साधकोंके लिये बहुत उपयोगी हैं ! इनमें भगवत्प्राप्तिकी सुगमताका रहस्य सरल बोलचालकी भाषामें बहुत सुन्दर ढंगसे समझानेका प्रयास किया गया है !

आध्यात्मिक उन्नति चाहनेवाले सभी जिज्ञासुओंसे प्रार्थना है कि वे अवश्य इस संग्रहको एक बार मनोयोगपूर्वक पढ़ें एवं अधिकाधिक लाभ उठावें।

विनीत

—प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

——*—*

॥ श्रीहरिः ॥

तत्काल सिद्धिका मार्ग

साधन-प्रणाली दो तरहकी है—एक तो शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिको साथ लेते हुए साधन करना और एक सीधा परमात्माके साथ सम्बन्ध जोड़ देना।

गीतामें योगकी महिमा कही है। योग नाम है समताका। तो पहले ही समताको पकड़ ले, चाहे वह अभी धारण नहीं हो। ऐसे ही भक्तिमें स्वयं भगवान्‌के शरण हो जाय, चाहे अभी शरणागतिका अनुभव न हो। ऐसे ही ज्ञानमार्गमें मेरा स्वरूप नित्य सत्यस्वरूप है—इसका अनुभव करनेकी आवश्यकता है। कर्मयोग और भक्तियोगमें केवल आपके निश्चयकी आवश्यकता है, और ज्ञानयोगमें अनुभवकी आवश्यकता है। यह इन दोनोंमें फर्क है। परन्तु अनुभव करें, चाहे एक निश्चय करें—इसका फल एक ही होगा, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानमार्गमें—'वास्तवमें मेरे स्वरूपमें कोई विकार नहीं है'—इसमें स्थित रहनेसे जितनी जल्दी सिद्धि होती है, उतनी क्रमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेसे नहीं होती। इसमें बहुत दूरतक जड़ताका साथ रहता है। जो ध्यानयोगसे परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं, उनको प्राप्ति तो होगी, पर ध्यानयोगमें बहुत दूरतक जड़ता साथ रहेगी। परन्तु गीताके कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ जड़ताकी आवश्यकता नहीं है।

कर्मयोग और भक्तियोगमें अपनी बुद्धिके एक निश्चयकी महिमा

है। इस वास्ते भगवान्‌ने कर्मयोगमें कहा—'**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका**' (२ । ४१) और भक्तियोगमें कहा— '**सम्यग्व्यवसितो हि सः**'(९ । ३०)। ज्ञानयोगमें कहा—'**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।**'(२ । ३९) अर्थात् यह समबुद्धि पहले सांख्ययोगमें कह दी, अब इसको योगके विषयमें सुन। वह समबुद्धि है—'**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**' (२ । ३८) । सांख्यमें स्वरूपके अनुभवके बाद समबुद्धि होती है और योग (कर्मयोग) में समबुद्धि होनेके बाद स्वरूपमें स्थिति होती है—यह मार्मिक बात है।

वास्तवमें स्वरूपमें जड़ता नहीं है—ऐसा विचारके द्वारा ठीक अनुभव हो गया, तो अब इसमें स्थित रहनेसे जितनी जल्दी सिद्धि होगी, उतनी जल्दी सिद्धि दोषोंको दूर करने, श्रवण, निदिध्यासन, ध्यान करनेसे नहीं होगी। ऐसे ही भक्तिमें 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह मान्यता करनेसे ही सिद्धि हो जाय। मान्यता कैसी होनी चाहिये ? जिसको कोई हटा न सके, ऐसी दृढ़ मान्यता। जैसे पार्वतीजीने कह दिया—***जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥ तजउँ न नारद कर उपदेसू। आपु कहहिं सत बार महेसू॥*** (मानस १ । ८१ । ३) भगवान् शंकर स्वयं सौ दफा कह दें कि मैं तेरेको स्वीकार नहीं करता, तो भी मैं छोड़ूँगी नहीं। यह मतलब है माननेका। जब आपने दृढ़ निश्चय कर लिया, तो उसकी प्राप्तिके लिये आपके द्वारा स्वतः साधन होगा, आपकी स्वाभाविक वृत्ति होगी। कारण उसमें यह है कि आपकी अहंता बदल जायगी। इसमें अभ्यास नहीं है।

अभ्यासका वर्णन गीतामें थोड़ा आता है; जैसे—'**यतो यतो निश्चरति......**' (६ । २६), '**अभ्यास योगयुक्तेन......**' (८ । ८); '**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि**' (१२ । १०) '**अभ्यासाद्रमते**'

(१८ । ३६) । जहाँ अभ्यासके द्वारा काम होगा, वहाँ जड़ताकी सहायता लेनी ही पड़ेगी। बिना मन, बुद्धिके अभ्यास नहीं होगा। परन्तु जहाँ स्वयंसे काम होता है, वहाँ अभ्यासकी जरूरत नहीं है। आपका विवाह होता है तो उसका अभ्यास करना पड़ता है क्या? मैं विवाहित हूँ—इसके लिये कोई माला जपनी पड़ती है क्या? मान्यतामें अभ्यास नहीं करना पड़ता। उसकी सिद्धि तत्काल होती है।

मैं जो यह कहता हूँ कि तत्काल सिद्धि होती है, इसको समझनेके लिये आपलोग मेरे पीछे नहीं पड़ते कि यह कैसे होगा? मेरे कहनेसे पीछे पड़ जाओ, यह पीछे पड़ना नहीं है। हृदयमें लाग (धुन) लग जाय। कोई गृहस्थ छोड़कर सच्चे हृदयसे साधु हो गया, तो हो ही गया, बस! इसमें अभ्यास नहीं है। क्या वह साधु होनेका अभ्यास करता है? आपकी बेटी क्या अभ्यास करती है कि मैं बहू बन गयी? 'आप अभी गोरखपुरमें हैं' तो क्या 'हम गोरखपुरमें हैं' इसका अभ्यास करते हो? नींद खुले तो भी मालूम होता है कि मैं गोरखपुरमें हूँ। कोई पूछे तो चट यही बात याद आती है कि मैं गोरखपुरमें हूँ। इसकी एक माला भी जपी है क्या? इसमें देरी नहीं लगती; क्योंकि इसमें अभ्यास नहीं करना पड़ता। अभ्यास करनेमें देरी लगती है।

आपको कर्मयोग और ध्यानयोग—दोनोंकी बात बताऊँ। गीताकी बात है, मेरी मन-गढ़न्त बात नहीं।

भगवान् कहते हैं—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(२ । ५५)

'जिस कालमें साधक मनोगत सम्पूर्ण कामनाओंका अच्छी तरह त्याग कर देता है और अपने-आपसे अपने-आपमें ही सन्तुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।'

कामनाओंको मनोगत कहनेका तात्पर्य है कि मन कामनारूप नहीं है। कामना आगन्तुक है, मनमें आती है। अतः कामना मनमें हरदम नहीं रहती। आप कहते हो कि कामना मिटती नहीं, और मैं कहता हूँ कि कामना टिकती नहीं! दस-पन्द्रह-बीस मिनट भी आपमें निरन्तर कामना नहीं रहती। वह तो छूट जाती है और आप दूसरी कामना पकड़ लेते हो। इसका खूब अध्ययन करना, फिर प्रश्नोत्तर करना, ऐसी कामनाओंका त्याग करना है। किन-किन कामनाओंका त्याग करें? तो कहा **'सर्वान्'** अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करें। कोई भी कामना न रहे। यह बात आपको जरा भारी लगेगी कि 'भगवान् मिलें; भगवान्‌के दर्शन हों'—यह कामना भी न रहे! यद्यपि भगवान्‌के मिलनेकी उनके दर्शनकी कामना कामना नहीं मानी गयी है। कामना जड़की होती है। चेतनकी कामना नहीं होती, आवश्यकता होती है। परन्तु यह भी न हो।

अब ध्यानयोगकी बात बतायें आपको। भगवान् कहते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

(६।१८)

'वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें अपने स्वरूपमें ही स्थित हो जाता है और स्वयं सम्पूर्ण पदार्थोंसे निःस्पृह हो जाता है, उस कालमें वह योगी कहा जाता है।'

अब कर्मयोगके (२।५५) और ध्यानयोगके (६।१८) श्लोकोंका मिलान करके देखें। कर्मयोगमें कामनाओंके त्यागके

बाद परमात्मामें स्थिति है और ध्यानयोगमें परमात्मामें मन लगानेके बाद कामनाओंका त्याग है—यह दोनोंमें फर्क है। अब ध्यानयोगमें कामनाओंका त्याग होनेके बाद क्या होगा? **'यथा दीपो निवातस्थो……'** (६।१९)—जैसे स्पन्दनरहित वायुके स्थानमें स्थित दीपककी लौ चेष्टारहित हो जाती है, हिलती-डुलती नहीं, योगका अभ्यास करते हुए यतचित्तवाले योगीके चित्तकी वैसे ही उपमा कही गयी है। ऐसा होनेके बाद चित्त निरुद्ध हो जाता है। जब इस निरुद्ध अवस्थासे भी चित्त उपराम हो जाता है, तब (चित्तसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर) ध्यानयोगी अपने-आपमें सन्तुष्ट होता है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

(६।२०)

चित्त उपराम कैसे होगा? संसारका कोई आदर न होनेसे, निरुद्ध अवस्था (समाधि) होनेसे चित्त संसारमें तो जा नहीं सकता और परमात्मतत्त्वको पकड़ नहीं सकता, इसलिये वह उपराम हो जाता है। उपराम होनेसे अपने-आपमें स्थिति होती है। परन्तु कर्मयोगमें कामनाओंका सर्वथा त्याग होनेपर तत्काल स्वरूपमें स्थिति है।

ध्यानयोगका फल बताया है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'** (६।२३) अर्थात् जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको 'योग' नामसे जानना चाहिये। इसीको पहले **'समत्वं योग उच्यते'** कहा है। यह योग ध्यानयोगका फल है। ध्यानयोगको, चित्तवृत्तियोंके निरोधको गीताने योग नहीं माना है। गीताने दुःखसंयोगवियोगको अर्थात् जड़तासे सर्वथा वियोगको ही योग माना है। पातञ्जलयोगदर्शन चित्तवृत्तिनिरोधको योग मानता

है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः,**' और उसका फल स्वरूपमें स्थिति बताता है—'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**' परन्तु गीता आरम्भमें ही स्वरूपमें स्थितिको योग बताती है। पातञ्जलयोगदर्शनका योग साधनयोग है और गीताका योग सिद्धयोग है। ये कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग सिद्धयोग हैं। तात्पर्य यह है कि ध्यानयोगसे स्वरूपमें स्थिति जल्दी नहीं होती, देरी लगती है, और कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगसे यह बहुत जल्दी होती है।

गीताके ज्ञानयोगसे सीधी स्वरूपमें स्थिति होती है। उसमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन, सविकल्प-निर्विकल्प समाधि, सबीज-निर्बीज समाधि आदि नहीं हैं। समाधि होगी तो दो अवस्थाएँ होंगी—समाधि और व्युत्थान। परन्तु गीताके योगमें व्युत्थान है ही नहीं, क्योंकि यह सहजावस्था है—'**उत्तमा सहजावस्था**' इसमें व्युत्थान होता ही नहीं। यह तत्काल होता है। इसमें देरी कब लगती है? जबतक अन्तःकरणमें जड़ पदार्थोंका महत्त्व है, तबतक तत्काल सिद्धि नहीं होती। आपमें जड़ पदार्थोंका महत्त्व नहीं हटा तो इसमें एक मार्मिक बात बताता हूँ। नहीं हटा तो भले ही न हटे, आप संयोगजन्य सुख न लें, इतना ख्याल रखें। सुख लोगे तो नया संस्कार पड़ेगा। तो कहते हैं कि एक बार सुख लेनेसे क्या होता है? अरे भाई, नया सुख लेकर नया संस्कार भीतरमें डाल रहे हो। एक ही उद्देश्य बन जाय कि हमें तो परमात्माकी प्राप्ति करनी है, नया सुख नहीं लेना है। सुख आ जाय तो उससे हानि नहीं है। इसमें भी एक मार्मिक बात है। सुख आ गया, हो गया सुख, पर सुख लेना नहीं है। जैसे, भोजन किया तो जीभपर मीठा रखनेसे मिठास आयेगी, मिर्ची रखो तो चरकास आयेगी, नमक रखो तो नमकीनपना आयेगा। इस प्रकार

विषयेन्द्रिय-सम्बन्धसे ज्ञान होगा। यह ज्ञान दोषी नहीं है। विकार होना, उससे सुखी-दुःखी होना दोषी है। यह विकार आ भी जाय तो विकारके साथ आप मत होओ। विकारको छोड़ दो। सुख-दुःख भोगो ही मत। उदासीन हो जाओ। फिर सब ठीक हो जायगा। अगर सुख-दुःख भोगते रहोगे, राजी-नाराज होते रहोगे, तो इसका संस्कार भीतर बैठ जायगा। फिर वह संस्कार दूर होनेमें देरी लगेगी। इसमें भी थोड़ी छूट बताऊँ कि किसी वक्त व्यवहारमें विकार हो भी जाय तो परवाह मत करो। परन्तु जब विचार करने बैठें, उस समय 'मेरेमें विकार बिलकुल है ही नहीं'—इसको दृढ़तासे मानो।

'क्षणपरिणामिनो भावा ऋते चितिशक्तेः।'

एक चितिशक्ति-(चेतन-) के सिवा सब-का-सब क्षण-परिणामी है। अतः वह मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा नहीं है, मेरे लिये नहीं है। इस प्रकार चितिशक्तिमें दृढ़तासे स्थित रहो कि मेरेमें विकार है ही नहीं। उस चितिशक्तिमें जितने दृढ़ रहोगे, उतनी ही आपमें विलक्षणता आयेगी। जिन मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको आप वशमें नहीं कर सकते हो, अपनेमें एक कमजोरीका अनुभव होता है, वह कमजोरी नहीं रहेगी। आपको आश्चर्य आये, ऐसा बल आ जायगा। कामको जीतनेकी, क्रोधको जीतनेकी, लोभको जीतनेकी, मोहको जीतनेकी, मात्सर्य-दोषको दूर करनेकी ताकत स्वतः आ जायगी। परन्तु ताकत लेनेके लिये स्थित नहीं होना है। इसका विचार ही नहीं करना है कि हमें ताकत लेनी है। केवल चितिशक्तिमें, अपने स्वरूपमें स्थित होना है कि मेरेमें कोई विकार नहीं है। दिनमें दस बार, पन्द्रह बार, बीस बार, पचास बार, सौ बार, दो-दो, तीन-तीन सेकेण्डके लिये भी इसमें स्थित हो जाओ कि हमारेमें दोष नहीं है। अपने स्वरूपको सँभाल लो—

'संकर सहज सरूपु सम्हारा।' (मानस १।५८।४)। यह तत्काल सिद्धि देनेवाला योग है। इसमें देरीका काम नहीं है। उन ऋषियों आदिको इतना समय लगा, इतने वर्ष लगे—ऐसा देखकर इस बातको रद्दी कर दो तो आपकी मरजी। मेरी प्रार्थना तो यह है कि आप इस बातको मान लो, करके देख लो। अगर देरीमें सिद्धि हो तो देरीवाला साधन तैयार है, उसमें तो हानि होगी ही नहीं; उसे कर लेना। परन्तु मैंने जो बताया है, वह सीधा मार्ग है। उसमें मन, बुद्धि, इन्द्रियों आदिकी कोई जरूरत नहीं है। अन्तमें तत्त्वकी प्राप्ति होगी तो वह वास्तवमें बुद्धिके द्वारा नहीं होगी, बुद्धिके त्यागसे होगी। अहंतापूर्वक नहीं होगी, अहंताके त्यागसे होगी। स्वरूपमें स्थित होनेपर अहंताका त्याग स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा, और इसका त्याग होनेपर वृत्तियोंको रोकना, मनको लगाना आदि कुछ करना नहीं पड़ेगा आपको। आपको विश्वास नहीं होता तो करके देखो। मैं कहता हूँ बहुत जल्दी होता है। जल्दी होता है ऐसी रीति है। यही रीति है **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'** (२।४१) और **'सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'**(९।३०)। भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(९।३०)

अगर कोई सुष्ठु दुराचारी हो, सांगोपांग दुराचारी हो, वह भी अनन्यभावसे भगवान्‌का भजन करता है तो उसको साधु मान लो। अनन्यभावसे भजन करनेका अर्थ है—कभी किञ्चिन्मात्र भी अन्यका आश्रय न हो। ***'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु। बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥'*** (मानस २।१३१)। जहाँ किसीकी भी कामना, किसीका भी

आश्रय नहीं है, वह भगवान्‌का खास अपना घर है। जहाँ जड़ताका आश्रय है, वह भगवान्‌का अपना घर नहीं है। उसमें भगवान् नहीं बैठे हैं। आपने कामनाओंको घर दे रखा है तो कामनाएँ बैठेंगी वहाँ। किसी भी अवस्थामें, मृत्युकी अवस्थामें, महान् संकटकी अवस्थामें भी कोई चाहना न हो।

ध्यान देना, एक मार्मिक बात बताऊँ। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते'** में **'भजते'** क्रियाका कर्ता है **'सुदुराचारः'**। तात्पर्य है कि वह पहले सुदुराचारी था, यह बात नहीं। जिस समय वह भजन करता है, उस समय वह सुदुराचारी है। अभी दुराचार छूटा नहीं है। परन्तु भीतरमें दुराचारका आदर नहीं है, आश्रय नहीं है। भगवान् कहते हैं कि उसको साधु मान लो—**'साधुरेव स मन्तव्यः'** यह विधि है, आज्ञा है, हुक्म है। हुक्म इसलिये दिया कि ऐसा दीखता नहीं। उसको हम साधु कैसे मानें ? आप खुद उसे सुदुराचारी कहते हैं। इसलिये कहते हैं कि उसको साधु ही मान लेना चाहिये—यह हुक्म है हमारा। किस कारण मानें ? कि उसने निश्चय पक्का कर लिया—**'सम्यग्व्यवसितो हि सः'**—अपने निश्चयसे कभी डिगता नहीं। कारण क्या है ? कि यह स्वयं साक्षात् परमात्माका अंश है। इसने संसारका, पदार्थोंका निश्चय कर लिया—यही तो गलती है। संसारसे विमुख होकर एक भगवान्‌का निश्चय कर ले, तो फिर देरी नहीं लगती—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'**(९। ३१) अर्थात् वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है। उस भक्तका कभी विनाश नहीं होता—**'न मे भक्तः प्रणश्यति'** (९। ३१)। मनुष्य भक्ति करते-करते भी भक्त होता है और अहंताको बदलनेसे भी भक्त होता है। मैं भगवान्‌का हूँ—इस प्रकार अपनी अहंताको बदल दे तो उसी क्षण भक्त हो

जाता है। जैसे, किसी गुरुका चेला हो गया, तो हो ही गया, बस। अब आगे गुरु महाराज जानें। गीताके अन्तमें यही अर्जुनने कहा है—'**करिष्ये वचनं तव॥**'(१८।७३)। यही शरणागति है, जो तत्काल सिद्धि देनेवाली है।

तत्त्वप्राप्तिमें देरी नहीं है

जो बात हमारी उन्नतिके लिये ठीक नहीं है, सच्ची नहीं है, हमारे लिये लाभदायक नहीं है, उसका त्याग कर दें—इतनी ही बात है, कोई लम्बी-चौड़ी बात नहीं है। त्यागसे तत्काल ही शान्ति मिलती है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (१२। १२)। उसमें कोई बाधा लगती हो तो बतायें, जिससे उसपर आपसमें विचार करें। साफ-साफ, सरलतासे कह दें। इसमें मान होगा, अपमान होगा, स्तुति होगी, निन्दा होगी, लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे—इन सब बातोंको छोड़ दें। अगर अपना कल्याण करना हो तो लोग चाहे कुछ भी कहें, कुछ भी करें, उस तरफ ध्यान न दें।

तेरे भावै जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठके, अपनौ भवन बुहार॥

त्यागका, कल्याणका काम अभी करनेका है। यह काम धीरे-धीरे करनेका, कई दिनोंतक करनेका है—यह बात नहीं है। पर लोगोंके भीतर यह बात बैठी हुई है कि यह तो समय पाकर होगा। सज्जनो! मैंने खूब विचार किया है। यह बात भविष्यकी है ही नहीं। भविष्यकी बात वह होती है, जिसका निर्माण किया जाता है। निर्माण करनेमें समय लगता है। परन्तु जो वस्तु पहलेसे ही है, उसमें समय नहीं लगता। वह तत्काल सिद्ध होती है। अतः जो बात हमारी जानकारीमें झूठी है, असत्य है, ठीक नहीं है, लाभदायक नहीं है, उसका त्याग कर देना है, बस। जो त्याग होता है, वह तत्काल होता है। त्याग धीरे-धीरे नहीं होता और ग्रहण भी धीरे-धीरे नहीं होता।

भगवान्‌ने कहा है—'**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**' (गीता २ । १६) 'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत् वस्तुका अभाव नहीं होता।' फिर कहा है —'**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥**' अर्थात् इन दोनोंके तत्त्वको तत्त्वदर्शी पुरुषोंने देखा है। देखा है—ऐसा कहा है, किया है—ऐसा नहीं कहा है। करनेमें देरी लगती है, देखनेमें देरी नहीं लगती। अगर देरी लगती है, समय लगता है, तो आपने देखना पसन्द नहीं किया है, करना पसन्द किया है। ज्ञान है, भक्ति है, योग है—ये तत्काल सिद्ध होते हैं। इनकी सिद्धि वर्तमानकी वस्तु है। अगर यह वर्तमानकी वस्तु न हो, अभी सिद्ध होनेवाली न हो, तो फिर सिद्ध कैसे होगी ? इसका निर्माण करना नहीं है, कहींसे लाना नहीं है, कहीं ले जाना नहीं है, इसमें कोई परिवर्तन करना नहीं है, फिर इसमें समयकी क्या जरूरत है ? इसपर विचार कर लें।

श्रोता—महाराजजी ! हमलोगोंमें ऐसा भाव बैठा है कि महाराजजीमें तो त्याग-वैराग्य था, साधना थी, उससे अन्तःकरण शुद्ध हो गया तो चटपट काम हो गया। हमलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है नहीं, इसलिये यह बात हमारे भीतर बैठती नहीं !

स्वामीजी—आपकी यह बात बिलकुल असत्य है। देखो, मैं आपसे एक बात कहता हूँ। आपको विश्वास दिला दूँ—यह तो मेरी सामर्थ्य नहीं है। यह बात मेरे तो बैठी हुई है; आपके न बैठे, यह बात है ही नहीं। आपका अन्तःकरण कितना ही अशुद्ध हो, गीताने कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(४ । ३६)

'अगर तू सम्पूर्ण पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

'पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः' कहकर आखिरी हद कर दी! इतना संस्कृतका बोध तो बहुतोंको होगा कि **'पापेभ्यः'** शब्द बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण पापियोंका वाचक है, फिर भी इसके साथ **'सर्वेभ्यः'** शब्द दिया। **'सर्वेभ्यः'** शब्द भी सम्पूर्णका वाचक है! अब विचार करें कि ये दोनों शब्द देनेके बाद भी भगवान्‌ने **'पापकृत्तमः'** शब्द और दिया है, जो अतिशयताबोधक है। पहले **'पापकृत्'** होता है, फिर **'पापकृत्तर'** होता है, और फिर **'पापकृत्तम'** होता है। यह आखिरी बात है। सम्पूर्ण संसारमें जितने भी पापी हो सकते हैं, उन सम्पूर्ण पापियोंसे भी अत्यधिक पापी! उसका अन्तःकरण कितना अशुद्ध होगा, बताओ? क्या आपके यह जँचती है कि मैं भी ऐसा ही पापी हूँ? नहीं जँचती न? भगवान् बताते हैं कि ऐसा महान् पापी भी ज्ञानरूपी नौकासे सम्पूर्ण पापोंसे तर जाता है। ऐसा कहकर फिर आगेके श्लोकमें कहते हैं—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

(४। ३७)

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको सर्वथा भस्म कर देती है, ऐसे ही ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको सर्वथा भस्म कर देती है।'

बहुत भभकती हुई जोरदार आग हो, मामूली आग नहीं, उसके लिये **'समिद्धः अग्निः'** शब्द दिये। **'अग्निः'** शब्द एकवचन है। उसके साथ बहुवचन शब्द **'एधांसि'** (ईंधन)

दिया। भस्मके लिये '**भस्मसात्**' शब्द कहा। '**भस्मसात्**' का अर्थ होता है—सर्वथा भस्म कर दे, उसकी राख भी न बचे। इस तरह ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण पापोंको भस्मसात् कर देती है। पहले कहा कि ज्ञानरूपी नौकासे सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे तर जायगा। दूसरा दृष्टान्त इसलिये दिया कि समुद्रसे तरनेपर समुद्रका अभाव नहीं होता, समुद्र रह जाता है। उस रह जानेके सन्देहको मिटानेके लिये दूसरा दृष्टान्त दिया कि ज्ञानरूपी अग्निसे सम्पूर्ण पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है, कोई पाप बाकी नहीं रहता। यहाँ '**कर्माणि**' कहनेसे भी काम चल जाता, फिर भी इसके साथ '**सर्व**' शब्द दिया। तात्पर्य है कि संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध—सभी कर्मोंका नाश हो जाता है। अब इसमें देरीका क्या काम ?

श्रोता—महाराजजी ! आप जो बात कहते हैं, वह युक्तिसे ठीक जँचती है, पर अकसर अपने अन्तःकरणकी स्थिति देखकर मन बिलकुल डाँवाडोल हो जाता है कि यहाँ तो पोल है सारी !

स्वामीजी—अब ध्यान देकर सुनना। अन्तःकरण 'करण' है कि 'कर्ता' है ? यह तो करण है; और तत्त्व करणसाध्य (करणसे प्राप्त होनेवाला) नहीं है, वह तो करणनिरपेक्ष है। अगर वह करणसाध्य होता तो हम आपकी बात मान लेते कि हाँ, ठीक है। करणसाध्य वह होता है, जिसका निर्माण किया जाता है, जो कहींसे लाया जाता है, कहीं ले जाया जाता है, जिसमें परिवर्तन किया जाता है। इस तरह जिसमें क्रियाके द्वारा कुछ-न-कुछ विकृति आती है, वहाँ करण काम करता है। जिसमें विकृति नहीं आती, उसमें करण काम नहीं करता। तत्त्वप्राप्तिमें करणकी अपेक्षा नहीं है। करणसे तो सम्बन्ध-विच्छेद करना है। अरे भाई ! जिसको छोड़ना है, उसको शुद्ध और अशुद्ध क्या करना ? शुद्ध है तो छोड़ दिया, अशुद्ध है तो छोड़ दिया।

श्रोता—महाराजजी ! **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४), **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** (गीता १२। १३) आदि लक्षण दीखें, तब मालूम दे कि अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। वैसे लक्षण दीखें नहीं तो यही दीखता है कि कुछ नहीं हुआ।

स्वामीजी—देखो, मैंने कल रात भी कहा था और अब भी कहता हूँ। यह तो आपको विश्वास है कि मैं आपको धोखा नहीं देता हूँ ?

श्रोता—हाँ, विश्वास है।

स्वामीजी—तो मैं आपको कहता हूँ कि आप भले ही कितने ही पापी हों, बड़े भारी पापी हों, पर अभी बोध हो सकता है। यह बात केवल मेरे लिये नहीं है। मेरे लिये होती तो आपको क्यों कहता ? आपके लिये, मेरे लिये—दोनोंके लिये यह बात है। हमारे पापोंका कितना ही बड़ा दर्जा हो, कितनी ही डिग्रीका पाप हो, इससे कोई मतलब नहीं। सभी पाप भस्मसात् हो जाते हैं।

श्रोता—पापकी वासना भी उठती जाती है महाराजजी !

स्वामीजी—पापकी वासना उठती है तो उठने दो। यह मेरी एक बात मान लो आप। पापकी मनमें आये तो आने दो, खराब संकल्प आये तो आने दो। आप इनसे डरो ही मत। इनकी कसौटी कसो ही मत। पाप टिक ही नहीं सकेंगे, भस्म हो जायँगे अपने-आप। पाप करणके ऊपर नहीं टिके हुए हैं। पाप कर्ताके ऊपर टिके हुए हैं। इसलिये करण शुद्ध नहीं है—इसकी क्यों चिन्ता करते हो आप। कर्ता शुद्ध हो जाय तो करण आपसे-आप शुद्ध हो जायगा। इसपर विचार करो कि कर्ता शुद्ध होनेपर करण अशुद्ध कैसे रहेगा ? आप अगर ठीक हैं, तो क्या कलम गलत लिखेगी ? कलम तो करण है और आप कर्ता हैं। गीताने **'अपि चेदसि'** 'अगर तू ऐसा है'—यह कहा है। 'अगर करण ऐसा है' यह नहीं कहा है।

आप इतने बैठे हैं। इनमें कोई भी ऐसा बिलकुल नहीं मान सकता कि मैं तो संसारके सम्पूर्ण पापियोंसे भी अधिक पापी हूँ। एक नम्रता-प्रदर्शनके लिये भले ही कह दो कि ऐसा पापी मैं हूँ, ***'मो सम कौन कुटिल खल कामी';*** परन्तु आपके हृदयमें जैसे 'तत्त्वप्राप्तिमें देरी नहीं है' यह बात नहीं जँचती, ऐसे ही हृदयमें यह बात भी नहीं जँचती होगी कि मैं सबसे अधिक पापी हूँ। कोई मान ही नहीं सकता कि महाराज सत्संग करते हैं, नाम-जप करते हैं, पाठ-पूजन करते हैं, सन्ध्या-गायत्री करते हैं; कुछ-न-कुछ करते ही हैं। फिर यह कैसे मान लें कि हम सबसे अधिक पापी हैं? अगर ऐसा हो, तो जलन पैदा हो जायगी। जलन पैदा होगी तो तत्काल कल्याण हो जायगा, देरी नहीं लगेगी। यह जो जलन है, इसमें पापोंका नाश करनेकी बहुत शक्ति है।

श्रोता—महाराजजी! संस्कार ऐसे बैठे हुए हैं कि साधनासे ही होगा; भजन, जप, कीर्तनसे ही होगा। बार-बार पुस्तकोंमें भी ऐसा ही पढ़ते हैं, जिससे यह बात भीतरमें कूट-कूटकर बैठी हुई है।

स्वामीजी—पुस्तकें मैंने भी पढ़ी हैं। मैंने पुस्तकें नहीं पढ़ी हों, ऐसी बात नहीं है। परन्तु मैं जो बात कहता हूँ, वह भी पुस्तकोंसे ही कहता हूँ। अभी मैंने जो दो श्लोक गीताके कहे हैं, इसमें समय लगनेकी बात कहाँ आती है? यह बात जैसे यहाँ ज्ञानमें कही गयी है, ऐसे ही भक्तिमें भी कही गयी है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है।'

दोनों ही जगह (४ । ३६ और ९ । ३० में) **'अपि चेत्'** पद आये हैं। तात्पर्य है कि ऐसा तू नहीं है; परन्तु अगर तू अथवा दूसरा कोई ऐसा हो भी जाय, तो भी कल्याण हो जाय। अगर ऐसा नहीं है, तो फिर बात ही क्या है! **'साधुरेव स मन्तव्यः'** 'उसे साधु ही मान लेना चाहिये' ऐसा कहनेका क्या अर्थ है? तुम्हारेमें साधुपना नहीं दीखता, **'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'** नहीं दीखता, तो भी मान लो। ज्ञानमें तो जान लो और भक्तिमें मान लो। ये दोनों बातें तत्त्वसे जाननेके अन्तर्गत आती हैं।

तत्त्वसे मान लेनेका नाम ही जानना है। मान लेनेका जो प्रभाव है, वह जाननेसे कम नहीं है। जैसे, बालक मान लेता है कि यह मेरी माँ है। यह मानी हुई बात है, जानी हुई, अनुभव की हुई बात नहीं है। **'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।'** (गीता १० । ३) यहाँ **'वेत्ति'** का अर्थ मानना है, जानना नहीं; क्योंकि मनुष्य भगवान्‌को अनादि जानेगा कैसे? इसे तो मानेगा ही। ऐसे ही **'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।'** (४ । ९) इसमें भी माननेकी बात है; क्योंकि भगवान्‌के जन्म और कर्मको वही जान सकेगा, जो भगवान्‌के जन्म और कर्मसे पहले होगा। भगवान्‌के जन्म और कर्म (उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने आदि) से पहले कौन हुआ है? अतः यहाँ **'तत्त्वतः वेत्ति'** का अर्थ दृढ़तापूर्वक मानना ही है। **'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्। सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा……'** (५ । २९) इसमें भी **'ज्ञात्वा'** माननेके अर्थमें आया है।

श्रोता—इसमें महाराजजी, परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान…… ?

स्वामीजी—देखो, अभी आप पुस्तकोंकी कोई बात मत लाओ। पुस्तकोंका प्रमाण देकर मेरेको चुप करना चाहोगे, तो मैं चुप

हो जाऊँगा। और क्या होगा ? परन्तु नतीजा क्या निकलेगा ? अपनी समस्या उलझेगी, सुलझेगी नहीं। मैं साफ कहता हूँ कि ज्ञान परोक्ष होता ही नहीं, हो सकता ही नहीं। ज्ञान अपरोक्ष ही होता है। ज्ञान होगा तो वह परोक्ष कैसे होगा ? और परोक्ष होगा तो वह ज्ञान कैसे होगा ? अनुभूति दो कैसे होगी ? जानना दो कैसे होगा ? इसपर भी खूब विचार करो, मैंने किया है ऐसा। ग्रन्थोंसे लाभ होता है, पर नुकसान ज्यादा होता है। यह बात तो नास्तिकताकी दीखती है। परन्तु मेरा विचार ऐसा ही हुआ है। अगर आप अपना कल्याण चाहते हैं तो अभी-अभी इन बातोंको छोड़ दो। अनुभूति परोक्ष होती ही नहीं।

श्रोता—किसी चीजको मान लिया, तो यह हुआ परोक्ष ज्ञान····।

स्वामीजी—यह मानी हुई बात है ही नहीं, यह तो सीखी हुई बात है। मानी हुई बात और होती है, सीखी हुई बात और होती है, जानी हुई बात और होती है। तोता 'राधेकृष्ण-गोपीकृष्ण' कहना सीख लेता है तो वह परोक्ष-ज्ञानी हो गया ! परोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता। जो परोक्ष है, वह ज्ञान कैसे ? अन्तःकरण, इन्द्रियाँ 'अक्ष' हैं, इससे 'पर' होगा, वह ज्ञान कैसे होगा ? यह तो एक प्रक्रिया है। प्रक्रियाके अनुसार चले तो यह भी ठीक है। इस प्रक्रियामें पहले विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षा—इस साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन करे। फिर तत्त्वपदार्थसंशोधन करे। यह बहुत लम्बा रास्ता है। इसमें तत्काल सिद्धि नहीं होती।

श्रोता—महाराजजी ! आपने कहा कि हम शरीर नहीं हैं; शरीर आत्मासे भिन्न है। आपके कहनेसे हमने इसको मान लिया।

स्वामीजी—यह मानना मानना नहीं है बाबा, यह सीखना है। मेरी बात याद रखो कि यह मानना है ही नहीं। अनुभूति चाहे न हो,

पर मान्यता दृढ़ होनी चाहिये। जैसे पार्वतीजीकी नारदके उपदेशपर दृढ़ मान्यता थी—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी।
बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी।
तजउँ न नारद कर उपदेसू।
आप कहहिं सत बार महेसू॥

(मानस १।८१।३)

भगवान् शंकर भी कहें, तो भी नारदजीके उपदेशको नहीं छोड़ूँगी। भगवान्से भूल हो सकती है, पर नारदजीसे भूल नहीं हो सकती। इसको कहते हैं मानना। शरीर और मैं दो हैं। ब्रह्माजी भी कह दें कि शरीर और तुम एक हो, तो उनकी भूल हो सकती है, पर हमारी नहीं हो सकती। हमारी समझमें न भी आये, तो भी बात तो ऐसी ही है। इस प्रकारकी दृढ़ मान्यता ज्ञानके समान उद्धार करनेवाली है। यह परोक्ष नहीं है। आपने विवाह किया तो स्त्रीको अपनी मान लिया। अब इसमें सन्देह होता है क्या ? विपरीत धारणा होती है क्या ? बताओ। माननेके सिवाय और इसमें क्या है ? स्त्री सती हो जाती है, आगमें जल जाती है—केवल माननेके कारण। जलनेपर भी आग बुरी नहीं लगती।

हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। उस गाँवमें अभी एक सती हुई। करपात्रीजी महाराजने बताया कि मैंने खुद जाकर उस स्थानको देखा है और बात सुनी है। पति दूर था और लड़की अपने मामाके यहाँ थी। उसने पतिकी बीमारीका हाल सुना। फिर उसको मालूम हुआ कि वे मर गये, तो कहा कि मुझे जल्दी पहुँचा दो। फिर कहा कि अब मैं वहाँ पहुँच नहीं सकती; क्योंकि उनकी दाहक्रिया पहले ही हो जायगी। मैं तो यहीं सती हो जाऊँगी। सबने ऐसा करनेसे रोका। रात्रि थी। दीया जल रहा था। उसने

दीयेपर अँगुली रख दी। वह अँगुली यों जलने लगी, जैसे मोम जलती हो। उसने कहा कि मेरेको यहाँ रखोगे तो तुम्हारा घर जल जायगा। इसलिये मुझे बाहर जाने दो। उन्होंने कहा कि अच्छा, तुम्हें जाने देंगे, तो उसने यों दीवारसे रगड़ करके अँगुली बुझाई। करपात्रीजीने कहा कि जहाँ अँगुली बुझाई, वह जगह मैं देख करके आया हूँ। दीवारपर उसके निशान थे। लड़कीको घरवाले बाहर ले गये, पर कहा कि हम न लकड़ी देंगे, न आग देंगे। नहीं तो आफत हो जाय कि आदमी जला दिया। उसने भगवान् सूर्यसे प्रार्थनाकी कि महाराज! आप मुझे आग दो। वह वहीं खड़ी-खड़ी जल गयी! पासमें पीपलका वृक्ष था, वह आधा जल गया। वहाँके मुसल्मानोंने बताया कि हमने देखा है। अब उसमें कौन-सा ज्ञान था, बताओ? वे चले गये, अब मैं नहीं रह सकती। उन्हींकी अंश हूँ मैं। उनकी दाहक्रिया हो गयी, मेरी कैसे नहीं होगी? इसको मान्यता कहते हैं। सुन लिया और सीख लिया—इसका नाम मान्यता नहीं है। इसका नाम सीखना है। सीख करके व्याख्यान दे देते हैं, खूब पुस्तकें लिख देते हैं।

ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, परोक्ष होता ही नहीं। मैंने इस बातपर विचार किया है, और इससे बढ़कर मैं क्या कहूँ? एकदम तत्काल सिद्धि हो जाती है, ऐसी बात है यह। एक दूसरी बात कहता हूँ। आपकी मान्यतासे आपको लाभ है या मेरी मान्यतासे आपको लाभ है? आपको लाभ किस बातमें है? आप अभी परोक्ष-अपरोक्ष लिये बैठे हो, ऐसी मान्यतासे लाभ है या मैं जो कहूँ, उस बातसे लाभ है? लाभकी बात भी नहीं समझते आप! अगर धोखा होगा तो आज दिनतक कौन-सा अच्छा काम हुआ है? धोखा ही हुआ है। एक मेरे कहनेसे और धोखा हो जायगा! परन्तु मैं कहूँ, उसमें धोखा होगा नहीं, हो सकता नहीं, होना

सम्भव ही नहीं। एकदम सच्ची बात है।

पंढरपुरमें चातुर्मास किया, तो उसमें मैंने यह बात कह दी कि तत्काल सिद्धि हो जाती है। उन्होंने यही कहा कि ऐसा नहीं होता है। अभिमानकी बात है, मैंने जोर देकर कह दिया कि मराठी भाषा मेरेको आती नहीं और यहाँके सन्तोंकी वाणी मैंने पढ़ी नहीं। परन्तु मेरा विश्वास है कि यहाँ जो एकनाथजी महाराज, तुकारामजी महाराज, ज्ञानेश्वरजी महाराज आदि अनुभवी सन्त हुए हैं, उनकी वाणीमें तत्काल सिद्धिकी बात जरूर आयेगी। उनकी वाणीमें यह बात आये बिना रह सकती नहीं। इतनेमें एक आदमी बोला कि हाँ, अमुक-अमुक जगह तत्काल सिद्धिकी बात आती है।

गीता कह रही है—**'अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः'** इसको मान लो। इस बातकी उलझन मत रहने दो। अन्तःकरण अशुद्ध होनेपर भी ज्ञान हो सकता है। अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होनेपर बाकी क्या रहा ? अन्तःकरणको शुद्ध करना और अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद करना—यह दो चीजें हैं। बड़े जोरसे कहता हूँ कि अन्तःकरणको अपना मानकर शुद्ध करोगे तो नहीं होगा शुद्ध। क्यों नहीं होगा ? मेरा अन्तःकरण है—यही अशुद्धि है। गोस्वामीजीने ममताको ही मल कहा है— ***'ममता मल जरि जाइ'*** (मानस ७। ११७ क)। मल लगाकर धोते हो, शुद्ध करते हो, तो होगा शुद्ध ? ममता रखोगे तो अन्तःकरण कभी शुद्ध नहीं होगा। गीताने भी ममता छोड़नेके लिये कहा है— **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२। ७१)।

—★—

अन्तःकरणकी शुद्धिका उपाय

ये राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि उत्पन्न और नष्ट होते हैं, आते और जाते हैं। परन्तु आप उत्पन्न-नष्ट होते हो और आते-जाते हो क्या ? नहीं। तो फिर ये (राग-द्वेषादि दोष) आपसे अलग हुए न ? अलग होनेसे ये आपमें नहीं हैं—यह बात दृढ़ हुई। अतः दृढ़तासे यह विचार होना चाहिये कि ये मेरेमें नहीं हैं। अगर ये आपमें होते तो जबतक आप रहते, तबतक ये भी रहते और आप न रहते तो ये भी न रहते। परन्तु आप तो रहते हो और ये नहीं रहते। ये आगन्तुक हैं, आप आगन्तुक थोड़े ही हैं ! आपका भाव (होनापन) तो निरन्तर रहता है। गाढ़ नींदमें 'मैं हूँ' ऐसा स्पष्टभाव नहीं होता, तो भी जगनेपर यह भाव होता ही है कि अभीतक मैं सोया था, अब जग गया हूँ। मैं सोया था, उस समय मेरा अभाव था, यह नहीं दीखता। अपना भाव तो निरन्तर अपने अनुभवमें आ रहा है, और इन दोषोंका आगन्तुकपना प्रत्यक्ष हमारे अनुभवमें आ रहा है। इसका भाव और अभाव—दोनों हमारी समझमें आते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ये राग-द्वेष आदि आपके स्वरूपमें नहीं हैं, प्रत्युत आपके मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें आते हैं। परन्तु शरीरको मैं-मेरा माननेसे इनके साथ अपने सम्बन्धका अभाव नहीं दीखता।

देखो, एक बात बतायें। आप ध्यान देकर सुनें। हमारेको संसारके जितने भी ज्ञान होते हैं, वे सब सांसारिक पदार्थ शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणको साथ लेकर ही होते हैं। परन्तु स्वयंका

बोध शरीर, इन्द्रियाँ, अंतःकरणको साथ लेनेसे नहीं होता। अब यह जो बात है कि अन्तःकरण शुद्ध होनेसे संसारका ज्ञान साफ होगा, पर स्वरूपका बोध कैसे होगा ? इसपर शंका करो।

श्रोता—महाराजजी ! अन्तःकरण शुद्ध होनेसे अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा तो बोध अपने-आप हो जायगा।

स्वामीजी—जड़-चेतनका, सत्-असत्का, नित्य-अनित्यका जो विवेक है, उस विवेकको महत्त्व न देनेसे ही बोध नहीं हो रहा है। विवेकको महत्त्व देनेसे अविवेक मिट जायगा और बोध हो जायगा। वह विवेक आपमें है और अभी है। उस विवेकको आपने प्रकाशित नहीं किया, उसको आपने उद्बुद्ध नहीं किया, उसको जाग्रत् नहीं किया, उसका आदर नहीं किया, उसको महत्त्व नहीं दिया—यह गलती हुई। अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्या हो जायगा ? शुद्ध होनेसे एक बात है कि इधर **(पारमार्थिक)** रुचि हो जायगी, और कुछ नहीं।

एक बड़ी मार्मिक बात है, जिस तरफ साधकका ध्यान नहीं जाता। **परमात्मतत्त्वका अथवा स्वरूपका बोध करण-निरपेक्ष है, करण-सापेक्ष नहीं है।** इसलिये करण शुद्ध हो या अशुद्ध, उससे विमुख होनेसे वह बोध हो जायगा।

श्रोता—अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना उससे सम्बन्ध टूट सकता है क्या ?

स्वामीजी—वास्तवमें तो सम्बन्ध है नहीं, पर सम्बन्ध मान लिया है। माना हुआ सम्बन्ध नहीं माननेसे मिट जायगा। इसमें शुद्धि-अशुद्धिसे क्या लेन-देन !

श्रोता—यह मान्यता बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए भी हो सकती है क्या ?

स्वामीजी—बिलकुल हो सकती है। आपके भीतर यह भाव होना चाहिये कि मेरी मुक्ति हो जाय, मुझे बोध हो जाय। मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाय—यह बात वस्तवमें सम्बन्धको दृढ़ करनेवाली है। किसीको मिटाना चाहते हो तो मिटानेसे पहले उसकी सत्ता मानते हो। अगर सत्ता नहीं मानते तो फिर मिटाते किसको हो? सत्ता मानते हो, तभी तो आप सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहते हो। सम्बन्ध है—यह मान्यता होती है, तब उसको दूर करते हो। मैं कहता हूँ कि सम्बन्ध है ही नहीं! उस (शास्त्रीय) प्रणालीमें और इस प्रणालीमें यही खास फरक है। जैसे, वेदान्त-ग्रन्थोंमें आता है कि '**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्चयते**' अध्यारोप और अपवाद—इन दोनोंसे निष्प्रपञ्चका प्रपञ्च होता है अर्थात् परमात्माका विवेचन होता है। तो मैं कहता हूँ कि जब अपवाद ही करना है तो अध्यारोप करो ही क्यों?

श्रोता—मेरा प्रश्न यही उठ रहा है कि अन्तःकरणकी शुद्धि हुए बिना मान्यता बनती नहीं।

स्वामीजी—मैं कहता हूँ कि बनती है। अन्तःकरणको लेकर बनाओगे तो नहीं बनेगी। देखो, सनकादिकोंने जाकर ब्रह्माजीसे प्रश्न किया कि मन विषयोंमें फँसा हुआ है और विषय मनमें बसे हुए हैं, तो फिर मनको विषयोंसे अलग कैसे करें? तो उत्तर दिया कि इन दोनोंसे ही सम्बन्ध-विच्छेद कर दो—'**मद्रूप उभयं त्यजेत्**' (श्रीमद्भा० ११। १३। २६)। यही तो मैं कहता हूँ। इस साधनको क्यों नहीं पकड़ते आप? यह शास्त्रकी बात है, मेरे घरकी नहीं है। मेरे घरकी इतनी ही बात है कि इसीको जोरसे पकड़ना चाहिये, दूसरेको नहीं। अध्यारोप करो, उसको रखो, फिर उसको दूर करो; क्यों आफतमें फँसते हो? है ही नहीं हमारेमें। इससे साधककी जल्दी सिद्धि होती है, इसलिये इसका आदर करो। यह प्रणाली मेरी

नहीं है और न किसीका ठेका है इसपर। यह तो सामान्य बात है।

श्रोता—महाराजजी ! जहाँ जिज्ञासा होती है, मान्यता होती है, वहींपर हमारी भोगोंमें रुचि पैदा होती है।

स्वामीजी—भोगोंकी रुचि है, सुखभोगकी इच्छा है—यही घातक है। इसका आप त्याग नहीं करते, इसीलिये सम्बन्ध-विच्छेदकी बात कठिन दीखती है, नहीं तो यह बहुत सुगम और बहुत सरल है।

श्रोता—यह सुखभोगकी इच्छा ही खास बीमारी है महाराजजी।

स्वामीजी—खास बीमारी है तो इसको दूर करो। वास्तवमें जब आपकी समझमें आ गयी कि यह बीमारी है, तो बीमारी आपसे दूर हो गयी। आँखमें लगा हुआ अंजन आँखसे नहीं दीखता। अंजन आँखसे तब दीखता है, जब वह आँखसे दूर हो—अँगुलीपर लगा हो।

श्रोता—स्वामीजी ! दोषको जानते हुए भी और इसको दूर करना चाहते हुए भी यह दूर क्यों नहीं होता ?

स्वामीजी—जबतक सुखकी इच्छा है, तबतक वह दोष दूर नहीं होगा। जैसी सुखभोगकी इच्छा है, वैसी त्यागकी इच्छा नहीं है। सुखभोगकी इच्छा ज्यादा प्रबल है। उसकी अपेक्षा उसके त्यागकी इच्छा बहुत कमजोर है।

श्रोता—यह सही बात है महाराजजी, सुखभोगकी रुचि ज्यादा है।

स्वामीजी—तो सुखभोगकी रुचिको दूर करो, और उस रुचिको दूर करनेमें आपको अभ्यास करना पड़ेगा। अगर अभ्यास न करके 'यह मेरेमें है नहीं'—इसको मान लो तो बहुत जल्दी काम हो जाय। वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि करनेकी अपेक्षा

अन्तःकरणसे सम्बन्ध-विच्छेद करो तो यह बहुत जल्दी सिद्धि करनेवाली बात है। सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे जो शुद्धि होगी, वह शुद्धि करनेसे नहीं होगी। बच्चा माँकी गोदीमें रहता हुआ शुद्ध नहीं होता। माँके मोह-पूर्वक स्नेहमें पला हुआ बालक निर्मोही नहीं हो सकता। बापका मोह कम होता है तो बापके पास रहनेवाला बालक सुधरेगा। अध्यापकका मोह और कम होता है तो उसके पास रहनेवाला बालक और ज्यादा सुधरेगा। तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्तका मोह होता ही नहीं, इसलिये उसके पास कोई रहेगा तो वह बहुत शुद्ध हो जायगा, सुधर जायगा। इस तरह आप अन्तःकरणको अपना मानते रहोगे तो वह शुद्ध नहीं होगा। मेरापन—रूपी मल तो लगाते जाते हो और कहते हो कि शुद्ध कर लूँगा ! कैसे शुद्ध कर लोगे ? मेरा है ही नहीं—यह बात बहुत ही शुद्ध करनेवाली है और जल्दी शुद्ध करनेवाली है। इसी बातको लेकर मेरी प्रणाली और तरहकी दीखती है। वह (दूसरी) प्रणाली भी मेरी पढ़ी हुई है और देखी हुई है तथा यह प्रणाली भी देखी हुई है। उस प्रणालीमें देरी लगती है, जल्दी सिद्धि नहीं होती। आप ही देख लो कि इतने वर्षोंसे सत्संग करते हैं, साधन करते हैं, पर वास्तविक सिद्धि कितनोंको मिली ? अशुद्धिको आदर देते हुए, अपनेमें मानते हुए उसको दूर करना चाहते हैं। इससे वह दूर होगी नहीं। वास्तवमें आपके स्वरूपमें यह है नहीं। '**शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥**'(गीता १३। ३१) अर्थात् शरीरमें स्थित रहता हुआ भी आपका स्वरूप शरीरमें स्थित नहीं है, कर्ता और भोक्ता नहीं है। इस प्रकार सीधे स्वरूपको ही पकड़नेकी मेरी प्रणाली है। यह कोई नयी बात नहीं है।

श्रोता—पर स्वामीजी ! रामायणमें तो ज्ञानको कठिन बताया गया है और आप कहते हैं कि सरल है ?

स्वामीजी—आप प्रमाण दोगे तो मैं चुप हो जाऊँगा, पर मैं मानूँगा थोड़े ही इस बातको ! आप रामायणकी बात कहोगे तो हृदयमें गोस्वामीजी महाराजका आदर होनेके कारण मैं चुप हो जाऊँगा। परन्तु जो सरल है, वह कठिन कैसे हो जायगा? गोस्वामीजी महाराजने इसको सरल कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(७। ७३ ख)

यह और किसीकी वाणी है क्या? बोलो।

श्रोता—महाराजजी ! बात समझमें आती तो है, पर आकर भी नहीं आती !

स्वामीजी—भाई, बात एक ही है। वह है—सुख-भोगकी इच्छा। इसको आप छोड़ते नहीं ! सुख भोग लें और संग्रह कर लें—ये दो चीजें हैं। मेरे पास वस्तु हो जाय, रुपया हो जाय, इतना आधिपत्य हो जाय और इनसे मैं सुख भोग लूँ—यह खास बाधा है। न सुख बाधक है और न संग्रह बाधक है। सुख और संग्रहकी जो इच्छा है, यही महान् बाधक है। इस इच्छासे लाभ किसी तरहका नहीं है और नुकसान किसी तरहका बाकी नहीं है। नरक, चौरासी लाख योनियाँ, सन्ताप, जलन, चिन्ता, भय—ये सब इस इच्छामें हैं।

श्रोता—इस इच्छाको मिटानेके लिये क्या किया जाय?

स्वामीजी—दूसरेका हित कैसे हो? दूसरेको सुख कैसे हो? दूसरेका सम्मान कैसे हो? दूसरेको आराम कैसे मिले?—यह लगन लग जाय। जहाँ अपने सुखकी इच्छा है, उस जगह दूसरेके सुखकी इच्छा हो जाय, लगन लग जाय, तो अपने सुख और संग्रहकी इच्छा मिट जायगी। न मिटे तो कहना !

जो दूसरोंके हितमें रत हैं, उनको भगवान्‌ने सगुण और

निर्गुण—दोनोंकी प्राप्ति बतायी है। सगुणकी प्राप्तिमें बताया—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४) और निर्गुणकी प्राप्तिमें बताया—**'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः···· सर्वभूतहिते रताः** (गीता ५।२५)।

यह जो आप ज्ञानमार्ग समझकर इन बातोंको टाल देते हो, कृपानाथ ! ऐसा न करो। ज्ञानमें, भक्तिमें, कर्मयोगमें—सबमें विवेक उपयोगी है। विवेकके बिना आपका साधन ठीक तरहसे चलता ही नहीं। विवेक तो उसके लिये भी उपयोगी है, जो स्वर्गकी प्राप्ति चाहता है, सकाम भावसे सिद्धि चाहता है। उसका शरीर तो यहीं रह जायगा, फिर स्वर्ग जायगा कौन ? इसलिये जो बन्धनका कारण है, उसमें भी विवेक जरूरी है। जो अपना उद्धार चाहता है, उसके लिये तो विवेक बड़ा भारी उपयोगी है। जो इसकी उपेक्षा करते हैं, वे गलती करते हैं। भगवान्‌ने तो गीताका आरम्भ ही इसीसे किया है कि शरीर और शरीरी, देह और देही दो हैं, एक नहीं है। वास्तविकता यही है। इसी वास्तविकताका अनुभव करना है। वास्तविकताका अनुभव नहीं करोगे तो और क्या अनुभव करोगे ?

श्रोता—विवेक परमात्माका स्वरूप है क्या ?

स्वामीजी—हाँ, स्वरूप हो जाता है। विवेक नाम है दो चीजोंका और परमात्मा है एक चीज। विवेक परमात्मामें परिणत हो जाता है। विवेककी जगह परमात्मा ही रह जाता है।

श्रोता—विवेकको कैसे जाग्रत् करें ?

स्वामीजी—यही तो मैं माथापच्ची कर रहा हूँ। आप और हम मिल करके अभी कर क्या रहे हैं ? विवेकको जाग्रत् करनेकी बात ही कर रहें हैं। विवेकके लिये अभ्यास जरूरी नहीं है, विचार जरूरी है। अभ्याससे मुक्ति नहीं होती और विचारसे मुक्ति बाकी नहीं रहती।

═══★═══

साधनकी मुख्य बाधा

इन्द्रियों और विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाला जो सुख है, उसकी जो आसक्ति है, यही खास बाधा है। संसारका जो सुख लेते हैं, अनुकूलतामें राजी होते हैं, यही वास्तवमें पारमार्थिक मार्गमें बाधा है। साधन करते हुए अगर साधनमें भी सुख लेते हैं, उसमें संतोष करते हैं, तो आगे ऊँचे चढ़नेमें बाधा लग जाती है। जैसे, रजोगुण-तमोगुण तो बाँधते ही हैं, पर सत्त्वगुण भी सुखकी आसक्तिसे बाँध देता है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गी० १४। ६)। सुखकी आसक्ति छूटनेसे दुःख सर्वथा मिट जाते हैं, यह बिलकुल सच्ची बात है, ठोस बात है। सुखकी आसक्ति न रहे तो परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाय, सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्ति हो जाय। मान-सम्मानका सुख है, भोगोंका सुख है, अनुकूलताका सुख है—यह खास बाधक है। अगर कोई शूरवीरता करके सुखकी लोलुपतामें न फँसे तो बहुत जल्दी उन्नति हो जाय। सुख-लोलुपताका सर्वथा त्याग करते ही उन्नति स्वतः सिद्ध है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गी० १२। १२)। यह बहुत सार बात है।

बहुत वर्षोंतक मैं व्याख्यान देता रहा। सुनाता भी रहा, सुनता भी रहा, पढ़ता भी रहा; परन्तु यह मनमें थी कि बात क्या है? यह कहाँ अटकाव है और क्यों अटकाव है? कई वर्ष हो गये, तब हमें यह बात मिली। इसलिये आपको यह बात बतायी कि आप गफलतमें न रहें। सुखासक्तिका त्याग करना ही

है हमें। इसके त्यागके बिना शान्ति नहीं मिलेगी। शान्तिमें भी रमण करोगे तो परमशान्ति नहीं मिलेगी। कल्याण चाहते हैं, मुक्ति चाहते हैं, तो सुख-लोलुपताका त्याग करना पड़ेगा, सुखकी आशाका त्याग करना पड़ेगा, सुखके भोगका त्याग करना पड़ेगा। बिना छोड़े शान्ति मिलेगी नहीं, बिलकुल पक्की, ठोस बात है।

भगवान्ने कह दिया कि **'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'** (गी० ५।२२) जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे दुःखोंके ही कारण हैं। इनका नाम तो सुख है, पर है महान् दुःख, जो महान् आनन्दकी प्राप्तिमें बाधा देता है, परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित करता है। भोगोंका सुख है, मानका सुख है, बड़ाईका सुख है, शरीरके आरामका सुख है, संग्रह करनेका सुख है, मेरे पास रुपया है, विद्या है, मैं समझदार हूँ—ऐसा अभिमानजन्य सुख है, यह सब बाधक है। सुखका अनुभव होना, ज्ञान होना बाधक नहीं है। मेरेको सुख मिलता रहे, मैं सुखी रहूँ—यह जो भीतरमें सुखभोगकी इच्छा है, यह बाधक है। इससे बड़ा भारी अनर्थ पैदा होता है। कोई हमारे सुखमें बाधा देता है; मान, सत्कार, बड़ाई, आराम, भोगमें बाधा देता है, तो वह हमें *बुरा लगता* है। इसमें एक मार्मिक बात है सज्जनो! दूसरा हमें बुरा लगता है—यही खास बुराई है।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमानः
स्वकर्मसूत्रे ग्रथितो हि लोकः॥

(अध्यात्मरामायण २।६।६)

'सुख या दुःखको देनेवाला कोई और नहीं है। कोई दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है। मैं करता हूँ—

यह वृथा अभिमान है; क्योंकि लोग अपने-अपने कर्मोंकी डोरीसे बँधे हुए हैं।'

इसने हमारा सम्मान नहीं किया, इसने हमारे विरुद्ध बात कर दी, इसने हमारे घाटा लगा दिया, इसने हमारे व्यापारमें बाधा लगा दी, इसने हमारी उन्नतिमें बाधा लगा दी—यह जो दूसरेको निमित्त मानना है, यह बहुत बड़ी भूल है। इस भूलसे महान् अनर्थ होता है, अपनी तरफ दृष्टि नहीं जाती, जबकि केवल अपनी तरफ दृष्टि जानी चाहिये। हमारेमें मानकी, बड़ाईकी, सुखकी इच्छा है, इस कारणसे दुःख होता है। दूसरा दुःख नहीं दे सकता। दूसरेसे दुःख तभी होता है, जब हम भीतरसे सुख चाहते हैं। अतः दुःखके कारण हम खुद ही हुए। ऐसा जिस दिन हमने समझ लिया, उस दिनसे हमारी उन्नति शुरू हो ही जायगी। बिलकुल पक्की बात है। जबतक यह दृष्टि रहेगी कि उसने ऐसा नहीं किया, उसने ऐसा नहीं किया, तबतक कभी उन्नति नहीं होगी; क्योंकि रास्ता शुरूसे ही गलत ले लिया। गलत रास्तेपर कितना ही चलो, ठेठ (सिद्धितक) कैसे पहुँचोगे? जो यह कहते हैं कि मेरा क्या दोष है इसमें, मेरा दोष है ही नहीं—यही मेरा दोष है। अपने दोष नहीं दीखते—यही वास्तवमें दोषोंको स्थिर रखनेवाली चीज है—'**परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।**' मैं अनुकूल परिस्थिति बना लेता हूँ, यह वृथाभिमान है—'**अहं करोमीति वृथाभिमानः।**' यह अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति तो आती-जाती रहती है। जैसे रातके बाद दिन और दिनके बाद रात आते-जाते रहते हैं, ऐसे ही सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आते-जाते रहते हैं। अगर हम सुखी-दुःखी होते रहेंगे तो पारमार्थिक बातसे वञ्चित रहेंगे। जिसको परम आनन्दकी प्राप्ति, दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति कहते हैं, वह नहीं होगी। केवल सुखकी लोलुपताका, सुखकी

आशाका, सुखके भोगका त्याग करें तो दुःख मिट जायँगे और महान् सुख मिल जायगा।

आप गहरा उतरकर सोचें कि दुःख किसका नाम है? सुखकी इच्छाका नाम ही दुःख है, और कोई दुःख है ही नहीं। दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं है। जो सुखकी इच्छा रखता है, उसको दुःख भोगना ही पड़ेगा—**'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।'** सुख तो आने-जानेवाला है, पैदा होता है और समाप्त हो जाता है—**'आद्यन्तवन्तः'** (गी० ५। २२)। सुख तो रहता नहीं, पर उसकी इच्छा, आशा बनी रहती है। सुखभोगके संस्कार भीतर रहते हैं। अगर सुखकी इच्छाका त्याग कर दें तो बहुत भारी लाभकी बात है। वह लाभ क्या है?—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

'जिस लाभकी प्राप्तिके बाद फिर दूसरा कोई लाभ माननेमें ही नहीं आता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता।' अर्थात् उस लाभमें, उस सुखमें कभी कमी आती ही नहीं, दुःखका स्पर्श होता ही नहीं। इसलिये संयोगजन्य सुखमें लोलुपता नहीं रखनी है, उसकी आशा नहीं करनी है, उसका चिन्तन नहीं करना है, उसके लिये उद्योग नहीं करना है। हाँ, जीवन-निर्वाहके लिये उद्योग करो। पर सुखभोगका उद्देश्य रखोगे, उसके लिये उद्योग करोगे तो फँस जाओगे। इसमें कोई शंका हो तो पूछो, और बात ठीक समझमें आ गयी तो आजसे ही मान लो। सावधान हो जाओ कि संयोगजन्य सुख नहीं लेंगे। कभी इस सुखसे मोहित भी हो जायँ, राजी भी हो जायँ, तो चेत करना चाहिये कि राम·····राम····· गजब हो गया! आज

तो हम इसके वशमें हो गये ! ऐसा होते ही इसकी लोलुपता छूट जायगी; क्योंकि इसमें खुदमें ताकत नहीं है, इसके नीचे बुनियाद नहीं है, जड़ नहीं है। पारमार्थिक सुखकी बुनियाद, जड़ परमात्मा है। इसलिये यह पारमार्थिक सुख कभी मिटता नहीं।

जितने भी सुख हैं, वे सब-के-सब आदि-अन्तवाले हैं। अतः संसारका सुख और दुःख सदैव आपके साथ नहीं रह सकता। आपके साथ सदैव परमात्मा ही रहते हैं। वे परमात्मा दीखते नहीं। न दीखनेपर भी उनको अपना मानना है और संसारको अपना नहीं मानना है।

जो जंगलमें रह करके, कन्द, मूल, फल खा करके अपना जीवन बितानेवाले हैं, ऐसे-ऐसे ऋषि-मुनियोंको भी विषयासक्ति बाधा पहुँचाती है। इसलिये जो सांसारिक पदार्थोंसे सुख मानते हैं, सांसारिक पदार्थोंकी गरज करते हैं, वे बड़ी भारी गलती करते हैं।

संसार जा रहा है !

भगवान् स्वयं कहते हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त-मूर्तिना।**' (गीता ९।४)। भगवान् सब जगह हैं—इस बातको आप मान लें। भगवान् सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सबमें हैं तो अपनेमें भी हैं, और सबके हैं तो मेरे भी हैं। केवल इस बातको आप मान लें। एक बात और है सज्जनो ! जो सबको मिल सकता है, वही हमें मिल सकता है। किसीको मिले और किसीको न मिले, वह हमारेको नहीं मिल सकता। सांसारिक चीजें सबको समानरूपसे नहीं मिल सकतीं, पर परमात्मा सबको समानरूपसे मिल सकते हैं। पहले वेदव्यासजी, शुकदेवजी, सनकादिक आदि बड़े-बड़े महापुरुषोंको जो परमात्मतत्त्व मिला है, वही परमात्मतत्त्व आज भी मिलेगा। अभी वर्तमानमें किसी महापुरुषको जो तत्त्व मिला है, वही तत्त्व हमारेको भी मिलेगा। कारण कि परमात्मा सब जगह हैं, सब समयमें हैं, सबमें हैं, सबके हैं। वे परम दयालु हैं और सर्वसमर्थ हैं। इस प्रकार उनको मानकर उनके नामका जप करें और साथ-साथ यह कहें कि हे नाथ ! प्रकट हो जाओ। जैसे बालक अपनी माँके लिये व्याकुल हो जाता है कि माँ कब मिलेगी, ऐसे ही हम उनके लिये व्याकुल हो जायँ कि हे नाथ ! आप कब प्रकट होंगे ! आप कब मिलोगे ! आप यहाँ हैं, मेरेमें हैं, मेरे हैं, और फिर मैं दुःख पा रहा हूँ !

हमने संतोंसे सुना है कि जो परमात्माकी सत्ताको दृढ़तासे स्वीकार कर लेता है कि परमात्मा हैं, तो उसको परमात्मा मिल जाते हैं। परन्तु साथ-साथ संसारकी सत्ताको मानते रहनेसे परमात्माकी प्राप्तिमें देरी लगती है। वास्तवमें संसार है नहीं, मिट रहा है—यह बात विशेष ध्यान देनेकी है। यह बात मैं बहुत बार कहता हूँ। बहुत बार कहनेका मतलब है कि आप इसको पक्की मान लें। यह संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है, हरदम नष्ट हो रहा है। जितने भी प्राणी जी रहे हैं, वे सब-के-सब मौतकी तरफ जा रहे हैं, मर रहे हैं। हम कल जितने जीते थे, उतने आज जीते हुए नहीं हैं। आठ पहर हमारा मर गया अर्थात् मरना नजदीक आ गया। हमारे जीनेका समय चौबीस घण्टा बीत गया। मात्र संसारमें स्थावर-जंगम, जड़-चेतन जितनी चीजें दीखती हैं, वे सब-की-सब अभावमें जा रही हैं और एक दिन उनका पूरा अभाव हो जायगा। वास्तवमें तो उनका प्रतिक्षण ही अभाव हो रहा है। जैसे, आगमें लकड़ी जल रही हो तो वह सब-की-सब लकड़ी जल जायगी। जितना धुआँ निकलता है, वह ज्वाला हो जायगा, ज्वालामें जलते-जलते लकड़ी अंगार बन जायगी, अंगारके कोयले बन जायँगे, कोयलोंकी राख हो जायगी। ऐसे ही यह सब-का-सब संसार कालकी अग्निमें जल रहा है, अभावमें जा रहा है।

संसार नहीं है और परमात्मा है। जो नहीं है, उसको 'है' मान लिया, इसीलिये जो 'है', वह परमात्मा नहीं दीखता। परमात्मा न दीखनेपर भी 'यह संसार नाशकी तरफ जा रहा है'—क्या यह भी नहीं दीखता ? थोड़ा-सा विचार करो तो यह प्रत्यक्ष दीखता है कि हमारा बालकपन कहाँ गया ? कलवाला दिन कहाँ गया ? बताओ। वह तो चला गया। कलवाला दिन चला गया तो आजवाला दिन नहीं जायगा क्या ? महीना नहीं जायगा क्या ?

वर्ष नहीं जायगा क्या ? उम्र नहीं जायगी क्या ? यह तो जा ही रही है, प्रत्यक्ष बात है। इस बातको दृढ़तासे मान लो। किसीके देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें यह बात नहीं आती हो तो बोलो !

श्रोता—आपने कहा कि परमात्माकी सत्ताको मान लो तो परमात्मा मिल जायँगे, प्रकट हो जायँगे। ऐसा हम मान ही रहे हैं; फिर हमारे माननेमें कहाँ भूल है ?

स्वामीजी—याद रखनेमें भूल होती है, माननेमें भूल नहीं होती। दो बातें हैं—एक याद रखना, स्मरण करना और एक उस बातको स्वीकार करना, मान लेना। जैसे, यह गोविन्दभवन है, यह कलकत्ता है—ऐसा मान लिया तो इस माने हुएमें भूल नहीं होती। माने हुएकी भूल तब मानी जायगी कि यह गोविन्दभवन नहीं है, यह तो कोई सरकारी आफिस है—ऐसा मान लें। यह कलकत्ता नहीं है, यह तो बम्बई है—ऐसा मान लिया तो भूल गये। याद न रहनेसे भूल नहीं होती। जैसे, भगवान्‌के नामका जप करते हैं और वह छूट जाय तो यह करनेकी भूल है, माननेकी भूल नहीं है।

श्रोता—तो फिर दीखते क्यों नहीं ?

स्वामीजी—न दीखनेमें मुख्य आड़ यह है कि हम जानते हैं कि संसारका प्रतिक्षण नाश हो रहा है, फिर भी इसको स्थायी मान लेते हैं।

एक सन्त खड़े थे नदीके पास, तो किसीने कहा कि देखो महाराज ! नदी बह रही है। सन्त बोले कि जैसे नदी बह रही है, ऐसे ही इस पुलपर आदमी भी बह रहे हैं और यह पुल भी बह रहा है। कैसे ? जिस दिन पुल बना था, उतना नया आज है क्या ? उसका नयापन बह गया न ? नयापन बह गया और पुरानापन आ गया। जब सर्वथा पुराना हो जायगा तो गिर जायगा। वास्तवमें वह जबसे बना, तभीसे उसका गिरना, नष्ट

होना शुरू हो गया। ऐसे ही मनुष्य भी बह रहे हैं। जितनी उम्र बीत गयी, उतने तो वे मर ही गये और अब भी प्रतिक्षण मर रहे हैं। इस प्रकार यह जो संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, इसको 'है' मान लेते हैं। यही कारण है कि वे जो प्रभु हैं, वे दीखते नहीं। 'नहीं' को 'है' मान लिया, यह उस प्रभुके दीखनेमें आड़ लगा दी।

इस बातको बड़ी दृढ़तासे मान लो कि संसार निरन्तर बह रहा है। दृढ़तासे न मान सको तो बार-बार याद करो कि भाई, संसार तो बह रहा है। एक सिद्धान्त है कि जो आदि और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता। जो आदि और अन्तमें होता है, वह वर्तमानमें भी होता है। जब यह संसार नहीं बना था, तब भी परमात्मा थे और जब यह संसार मिट जायगा, तब भी परमात्मा रहेंगे। अतः इस संसारके रहते हुए भी परमात्मा हैं। संसार पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा, तो बीचमें दीखते हुए भी संसार नहीं है। कारण कि बीचमें दीखते हुए भी वह प्रतिक्षण 'नहीं' में जा रहा है। हमारी बाल्यावस्था जैसे 'नहीं' में चली गयी, ऐसे ही जवानी भी 'नहीं' में चली जायगी, वृद्धावस्था भी 'नहीं' में चली जायगी, जीवन भी 'नहीं' में चला जायगा। इसमें असावधानी यह होती है कि संसारको 'नहीं' जानते हुए भी उसको 'है' मान लेते हैं। अज्ञानी किसका नाम है ? जो जानते हुए भी न माने, उसका नाम अज्ञानी है। भीत-(दीवार) को कोई अज्ञानी नहीं कहता; क्योंकि वह तो कुछ भी नहीं जानती। जो जानता है, उसको मानता है, उसका नाम ज्ञानी है।

श्रोता—महाराजजी ! रामका नाम लेनेसे प्रारब्ध कट जाता है ? जान-अनजानमें हुए पाप कट जाते हैं ?

स्वामीजी—कट जाते हैं। मैंने जो बात कही है न, उससे सब-के-सब पाप कट जायँगे। परमात्मा है और संसार नहीं है—

इस बातको दृढ़तासे मानते हुए नाम-जप करो तो जल्दी काम होगा। संसारको 'है' मानते रहोगे तो वर्षोंतक नाम-जप करनेपर भी सिद्धि नहीं होगी। नाम-जप निरर्थक नहीं जायगा; परन्तु प्रत्यक्ष उसका फल नहीं दीखेगा।

परमात्मा है—यह तो हम शास्त्रोंसे, सन्तोंसे सुन करके मानते हैं। परन्तु संसार प्रतिक्षण नाशकी तरफ जा रहा है—यह तो प्रत्यक्ष दीखता है। अगर इस बातको मान लें कि जो दीखता है, वह संसार है नहीं, तो संसारका ज्ञान हो जायगा। अगर संसारको 'है' मानते हैं, तो संसारका ज्ञान नहीं हुआ है। संसारका ज्ञान होनेसे परमात्माका ज्ञान हो जायगा और परमात्माका ज्ञान होनेसे संसारका ज्ञान हो जायगा।

संसार अभावकी तरफ जा रहा है, नष्ट हो रहा है—यह जागृति हरदम रहनी चाहिये। यह बहुत बढ़िया साधन है। यह सब तो जा रहा है—ऐसी सावधानी रखते हुए नामजप करो। ये शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि, यह जबान, यह जप, सब जा रहा है, पर जिसके नामका जप कर रहे हैं, वह जाता ही नहीं कभी। वह तो रहेगा ही। उसीका जप कर रहे हैं, उसीको याद कर रहे हैं।

श्रोता—यह जा रहा है—ऐसा कहनेसे जागृति हो जायगी ?

स्वामीजी—ऐसा कहनेसे जागृति नहीं होगी, भीतर माननेसे जागृति होगी। अगर परमात्माको और संसारको जाननेकी सच्ची नीयत है तो ऐसा कहनेसे भी वह बात माननेमें आ जायगी। परमात्मा अविनाशी है और संसार नाशवान् है—इसको जाननेके उद्देश्यसे आप बार-बार कहोगे तो भी जागृति हो जायगी। परन्तु जो बात वर्तमानमें काम न आये, उससे क्या लाभ ? यह जो बात मैं कह रहा हूँ, इस बातको आप दृढ़तासे मान लो तो यह वर्तमानमें काम आयेगी। आज एक दिन मानकर देख लो। इसको

सजग होना, जाग्रत् होना कहते हैं। एक दिन आप सजग रहकर देखो। सन्तोंकी वाणीमें आता है— ***'दिलमें जाग्रत रहिये बन्दा।'*** और ***'जाग्रत नगरीमें चोर न लागे, झख मारेला जमदूता। जाग्या गोरखनाथ जग सूता॥'*** जाग्रत् रहनेवालेको यमदूत नहीं मार सकेगा। वह शरीरको मारेगा, तो शरीर पहलेसे ही मर रहा है! अब यमदूत क्या करेगा? बताओ।

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' (गीता ५। १९)

समरूप परमात्मामें जिनका मन स्थिर हो गया है, उन्होंने मात्र संसारको जीत लिया। वे विजयी हो गये। उनके सामने सब संसार हार गया। जो मर रहा है, वह संसार हमारा क्या बिगाड़ सकता है? आप कृपा करके इस बातको मान लें।

मेरे रुपये हैं, मेरा घर है, मेरा परिवार है, मैं ऐसा हूँ, मैं यों कर दूँगा। अरे, तू तो मर रहा है, कर क्या देगा? शरीर तो मर रहा है, इसमें जो रहनेवाला है, वह परमात्माका स्वरूप है। इस जागृतिको आप रखो तो सच्ची, निहाल हो जाओगे। इसमें सन्देह नहीं है। बड़ी सीधी-सरल और सुगम बात है। बताओ, इसमें कठिनता क्या है? आपका-हमारा जो शरीर है, यह शरीर पहले ऐसा नहीं था—यह सबका अनुभव है। जितना जी गये, उतना तो मर गये। भाई, बुरा न मानना। सच्ची बात है यह। मरना शब्द बुरा लगता है। बुरा लगे, चाहे भला लगे, सच्ची बात है कि जितना हम जी गये, उतने दिन तो हम मर ही गये। मर गये ही नहीं, मर रहे हैं। कल जितनी उम्र थी, आज उतनी उम्र नहीं है। इसकी जागृति रखो।

श्रोता—महाराजजी! क्या अभी-अभी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है?

स्वामीजी—अभी-अभी, इसी क्षण हो सकती है। देखो, परमात्माकी प्राप्तिमें देरी नहीं लगती। अपनी जो पकायी हुई धारणा

है, उसको दूर करनेमें देरी लगती है अर्थात् यह मेरा शरीर है, मेरा धन है, मेरा घर है, मेरा कुटुम्ब है—इस तरह जो अपना नहीं है, उसको अपना मान लिया—इसको दूर करनेमें देरी लगती है।

संसार नहीं है—इसकी याद न आना दोष नहीं है, संसारको सच्चा मान लेना दोष है। जैसे याद न करनेपर भी 'हम कलकत्तामें हैं' यह बात भीतर पक्की बैठी हुई है, ऐसे ही, स्त्री, पुत्र आदि अपने हैं, यह बात भीतर बैठी हुई है। वही परमात्मप्राप्तिमें आड़ लगा रही है। परमात्मा तो मौजूद है, फिर उसके मिलनेमें देरी क्या है? जो मौजूद नहीं है, उसको मौजूद मानकर मनसे पकड़ रखा है—यही देरीका कारण है।

श्रोता—जो दीखता नहीं है, उसको अपना कैसे मानें?

स्वामीजी—भाई, मैंने पहले ही बात कह दी कि आप परमात्माको भले ही मत मानो, पर संसार प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है—यह दीखता है कि नहीं? दीखनेपर परमात्माको मान लेंगे—यह बड़ी भारी गलती है, मामूली गलती नहीं। जो दीखता है, उसको मानते हैं—यही गलती है। जो दीखता है, वह तो टिकता ही नहीं। वह तो प्रतिक्षण जा रहा है, मिट रहा है। आज इसी बातको दृढ़तासे मान लो। आज यही पाठ पढ़ लो।

जो दीखता नहीं, उसको कैसे मानें—यह समझदार आदमीका प्रश्न नहीं है। समझदार आदमीका प्रश्न तो यह होता है कि जो दीखता है, उसको हम कैसे मानें, क्योंकि वह तो एक क्षण भी ठहरता नहीं। संसार नेत्रोंसे रहता हुआ दीखता है और अक्लसे बहता हुआ दीखता है। अतः अक्लसे खुदा पहचानो। यह आज अक्ल ले लो कि जो दीखता है, वह सच्चा नहीं है।

★

सत्संगसे लाभ कैसे लें ?

श्रोता—सत्संगमें जैसी स्थिति रहती है, वैसी हर समय नहीं रहती, और सत्संग हर समय मिलता नहीं !

स्वामीजी—सत्संग न मिले तो पारमार्थिक पुस्तकें पढ़ो।

श्रोता—पुस्तकें पढ़नेको भी सदा समय नहीं मिलता।

स्वामीजी—देखो, सब समय तो कोई बात रहती नहीं। संसारका सम्बन्ध भी सदा नहीं रहता। सत्संगमें जैसी स्थिति, जैसी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी हर समय नहीं रहतीं—ऐसी बात नहीं है। स्थूल दृष्टिसे तो वैसा दीखता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भीतर सत्संगके जो संस्कार रहते हैं, वे स्थायी रहते हैं। उनके स्थायी रहनेसे ही आपकी सत्संगमें रुचि रहती है। वे संस्कार जितने अधिक स्थायी होंगे, उतनी ही रुचि अधिक होगी और जितनी रुचि अधिक होगी, उतना ही साधन बढ़ेगा। अतः तात्कालिक चीज (सत्संग) मिले तो उससे अपनी रुचिको बढ़ाना चाहिये। भीतर सत्संगका महत्त्व अंकित रहना चाहिये कि यह बहुत लाभदायक है, इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है। ऐसा होनेसे कहीं भी सत्संग हो तो आपकी रुचि होगी कि हम सत्संग करें।

दूसरी बात, अभी जो सत्संग सुननेसे रुचि होती है, वह बुद्धिमें, मनमें, अन्तःकरणमें होती है। वह रुचि वास्तवमें आपके खुदकी होनी चाहिये। खुदकी रुचि होगी तो वह मिटेगी नहीं; क्योंकि खुद मिटता नहीं। अन्तःकरण तो प्रकृतिका कार्य होनेसे बदलता रहता है। तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी सिद्ध पुरुषोंमें

सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियाँ आती हैं (गीता १४। २२)। सिद्ध पुरुषोंमें और हमलोगोंमें फरक क्या रहता है ? उन वृत्तियोंके आनेपर सिद्ध पुरुष तो स्वाभाविक तटस्थ रहते हैं, पर हम उन वृत्तियोंके साथ मिल जाते हैं। सत्संगके समय जैसी वृत्तियाँ रहती हैं, और समयमें वैसी वृत्तियाँ नहीं रहतीं—इसका कारण है अन्तः-करणकी अनित्यता, अन्तःकरणका एक रूप न रहना। बदलने-वाली चीजको जाननेवाले आप नहीं बदलते हो। रुचि और अरुचि—दोनोंका जिसको अनुभव होता है, उसके साथ रुचि-अरुचि दोनोंका सम्बन्ध नहीं है।

सात्त्विक, राजस, तामस वृत्तियोंके साथ मिल जाना अस्वाभाविक है, और इनके साथ न मिलना स्वाभाविक है। स्वाभाविकताको जबतक नहीं पकड़ते, तबतक यह दशा रहती है। स्वयं (स्वरूप) अच्छे-मन्दे दोनोंको जाननेवाला है, दोनोंका प्रकाशक है, दोनोंका आश्रय है। उसके आश्रित ही अच्छी-मन्दी दोनों क्रियाएँ होती हैं। हमारी स्थिति उस स्वरूपमें होनी चाहिये—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। वह सम्पूर्ण वृत्तियोंका, संयोग-वियोगका आधार है, उनका निर्लिप्त प्रकाशक है। जैसे, दीपक जल रहा है। अब आपलोग आयें तो दीपक वैसा ही है, आपलोग थोड़े आयें तो दीपक वैसा ही है। और कोई भी नहीं आये तो दीपक वैसा ही है। ऐसे ही आपका स्वरूप वृत्तियों आदिको प्रकाशित करनेवाला है, उनके साथ चिपकनेवाला नहीं है। अगर स्वरूप चिपकनेवाला होता तो एकके साथ ही रहता, दूसरेके साथ नहीं जाता। अगर आप सत्त्वगुणमें चिपक जाते तो रजोगुण-तमोगुणमें कौन जाता ? रजोगुणमें चिपक जाते तो सत्त्वगुण-तमोगुणमें कौन जाता ? और

तमोगुणमें चिपक जाते तो सत्त्वगुण-रजोगुणमें कौन जाता ? आपका चिपकनेका स्वभाव नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ आपके सामने आती हैं, पर आप किसी भी अवस्थाके साथ हरदम नहीं रहते। अवस्थाएँ बदलती हैं, आप नहीं बदलते। आप आने-जानेवाली वृत्तियोंके साथ, अवस्थाओंके साथ मिल जाते हो, इसीसे गलती होती है। इससे आप तटस्थ रहो—***'देखो निरपख होय तमाशा।'*** कभी नफा हुआ, कभी नुकसान हुआ, किसीका जन्मना हुआ, किसीका मरना हुआ, किसीका संयोग हुआ, किसीका वियोग हुआ—यह तो होता ही रहता है, पर हम इसके साथ नहीं हैं और यह हमारे साथ नहीं है। ये बदलनेवाले हैं, हम बदलनेवाले नहीं हैं।

सत्संगके समय 'हम बदलनेवाले नहीं हैं'—इसमें अपनी स्थिति करनी चाहिये। सत्संगके समय सत्संगका रस नहीं लेना है। सत्संगका सुख नहीं लेना है। सत्संगका तत्त्व समझना है, उसको धारण करना है, उसमें तल्लीन हो जाना है। उस तत्त्वके साथ आपका स्वयंका सम्बन्ध होना चाहिये। स्वयंका सम्बन्ध होनेसे जब अनुकूल साधन नहीं होगा, अनुकूल संग नहीं मिलेगा, अनुकूल पुस्तक नहीं मिलेगी, तो उस समय आपको अच्छा नहीं लगेगा, बुरा लगेगा। फिर आप भजन-चिन्तनमें आपसे-आप लग जाओगे। हमारा सम्बन्ध तो भगवान्‌के साथ है। तात्कालिक सुखकी अपेक्षा भगवान्‌के सम्बन्धको भीतरमें ज्यादा महत्त्व देना चाहिये। जैसे, मनुष्योंका रुपयोंमें एक आकर्षण है। रुपये कमानेमें चाहे सुख होवे, चाहे दुःख होवे, पर रुपयोंका आकर्षण वैसे ही रहता है। घाटा लगे तो भी आकर्षण रहता है और मुनाफा हो तो भी आकर्षण रहता है। इस प्रकार जिस जगह

रुपयोंका महत्त्व बैठा हुआ है, उस जगह भगवान्का महत्त्व बैठाना चाहिये। भीतरमें रुपयोंका महत्त्व होनेसे जैसे रुपयोंकी बातें अच्छी लगती हैं, ऐसे ही भगवान्का महत्त्व होनेसे भगवत्सम्बन्धी बातें अच्छी लगेंगी।

सत्संगी आदमीको पहले कम-से-कम यह सोच लेना चाहिये कि हमारा कौन है और हमारा कौन नहीं है। ध्यान देना, बड़ी मार्मिक बात है। जो हमारे साथ निरन्तर रहता है और हम जिसके साथ निरन्तर रहते हैं, वह हमारा है। हम जिसके साथ निरन्तर नहीं रह सकते और जो हमारे साथ निरन्तर नहीं रह सकता, वह हमारा नहीं है। अब जो हमारा है, उसको हम पहचानते क्यों नहीं? जो हमारा नहीं है, सदा उसकी तरफ आकर्षण क्यों होता है? कारण यह है कि जो हमारा है, सदा हमारे साथ रहता है, उसको अपना मानना छोड़ दिया और जो हमारा नहीं है, कभी हमें मिलता है कभी नहीं मिलता, उसको अपना मानना शुरू कर दिया। यहाँ गलती हुई है। धन, सम्पत्ति, वैभव, पुत्र, परिवार, मान, बड़ाई आदि कभी होते हैं और कभी नहीं होते, घटते-बढ़ते हैं, सदा साथमें नहीं रहते, पर उनको अपना मान लिया। जो अपना है, उससे विमुख हो गये, उसकी उपेक्षा कर दी! मीराबाईने कहा कि ***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'*** हमने ***'दूसरो न कोई'***—इस बातको नहीं पकड़ा, इसीलिये ***'मेरे तो गिरधर गोपाल'***—इसका अनुभव नहीं हुआ। वे भगवान् सबके हैं। वे प्राणिमात्रके हृदयमें रहते हैं— **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'** (गीता १८। ६१)। उनकी तरफ हमें देखना चाहिये। मैं बहुत बार कहा करता हूँ कि भगवान् सब देशमें, सब कालमें, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सम्पूर्ण वृत्तियोंमें, सम्पूर्ण घटनाओंमें, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें,

सम्पूर्ण अवस्थाओंमें रहते हैं। ऐसा कहनेका तात्पर्य क्या है ? वे सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सबमें हैं तो हमारेमें भी हैं, सबके हैं तो हमारे भी हैं। इसलिये किसीको भी उनकी प्राप्तिसे निराश होनेकी जरूरत नहीं है। जो किसी देशमें हो, किसी देशमें न हो; किसी कालमें हो, किसी कालमें न हो; उसके साथ हमें सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। उसका काम कर देना है, उसकी सेवा कर देनी है। उसके साथ सम्बन्ध जोड़ोगे तो दुःख पाओगे; क्योंकि वह सदा तो रहेगा नहीं।

सत्संगके द्वारा जो सुख मिलता है, उसको मत लो। जिससे वह सुख मिलता है, उस भगवान्‌को पकड़ो। वह सुख भगवान्‌के यहाँसे आता है। वे भगवान् हमारे हैं। ये शरीर-संसार हमारे नहीं हैं। अगर शूरवीरतासे आप इस बातको स्वीकार कर लो, तो बहुत ही लाभकी बात है।

परमात्मा कभी हमारेसे अलग नहीं होते। उनको हम जानें तो हमारे साथ हैं, हम न जानें तो हमारे साथ हैं; हम उनके सम्मुख हो जायँ तो हमारे साथ हैं, उनसे विमुख रहें तो हमारे साथ हैं। जहाँ मैं हूँ, वहाँ भी परमात्मा हैं। जो 'हूँ' है, वह 'है'—(परमात्मा) के साथ है। इस 'हूँ' को शरीरके साथ मान लेते हैं—यह गलती है। परमात्मा यहाँ हैं, अभी हैं, मेरेमें हैं, मेरे हैं—इस बातको पकड़ लो। ये बातें सीखनेके लिये और सुनने-सुनानेके लिये नहीं हैं। ये पकड़नेकी, स्वीकार करनेकी बातें हैं। संसारकी बातें रहनेवाली नहीं हैं। ये सब मिटनेवाली हैं। संसारकी बातोंमें उलझ करके उनमें भी दो बातें कर लेते हो अर्थात् सुख और दुःख, अनुकूल और प्रतिकूल—ये दो मान्यताएँ कर लेते हो, इससे बड़ा भारी बन्धन होता है। इन दो चीजोंसे अर्थात् द्वन्द्वोंसे रहित होनेसे मनुष्य सुखपूर्वक बन्धनसे मुक्त हो

जाता है—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते**' (गीता ५ । ३) । इसलिये द्वन्द्वोंमें नहीं फँसना चाहिये ।

संसारकी किसी समाज-सम्बन्धी बातको लेकर कोई कहता है कि यह ठीक है और कोई कहता है कि यह बेठीक है, तो वास्तवमें वे दोनों ही बेठीक हैं; क्योंकि दोनोंसे मुक्ति तो होती नहीं ! केवल संसारमें फँसनेका तरीका है । संसारकी दो बातोंको लेकर उनमेंसे किसी एक बातको पकड़ लेते हैं तो बड़ी भारी हानि होती है । इससे कल्याण नहीं होता । व्यवहारमें जो बात ठीक है, उसको कर लें, पर उसको पकड़ें नहीं । वह बात ठहरेगी नहीं, रहेगी नहीं और परमात्मा रहेंगे । परमात्माका सम्बन्ध कभी छूटेगा नहीं । संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं । उस संसारमें अच्छा और मन्दा क्या, ठीक और बेठीक क्या, पूरा-का-पूरा ही बेठीक है । अब ये कहते हैं कि हम तो गृहस्थी हैं । अगर गृहस्थी हो तो अच्छा काम करो, फँसते क्यों हो ? काम गृहस्थीको भी करना है और साधुको भी करना है, पर फँसना नहीं है । मान और अपमान—दोनोंको बराबर समझना है । ये दोनों ही तुल्य हैं—'**मानापमानयोस्तुल्यः**' (गीता १४ ।२५) । जिस जातिका मान है, उसी जातिका अपमान है । ये दोनों ही त्याज्य हैं । न मान ग्राह्य है और न अपमान ग्राह्य है । इसमें क्या राजी और क्या नाराज होवें ? '**किं भद्रं किमभद्रं वा**' (श्रीमद्भा० ११ । २८ । ४)—क्या ठीक और क्या बेठीक ?

गीतामें आया है—'**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ**' (गीता २ । ३८), तो '**समे कृत्वा**' का अर्थ क्या हुआ ? कि जय हो गयी तो क्या और पराजय हो गयी तो क्या ? लाभ हो जाय तो क्या और हानि हो जाय तो क्या ? सुख हो तो क्या और दुःख हो तो क्या ? ये तो मिटनेवाले हैं । रहनेवाली न

जय है, न पराजय है, न लाभ है, न हानि है, न सुख है, न दुःख है। वक्तपर जो काम आया, उसे निर्लेप होकर कर दिया, बस। अतः संसारके संयोग-वियोगको महत्त्व मत दो। फिर यह सत्संगवाली स्थिति स्थायी हो जायगी। परन्तु संसारके संयोग-वियोगको महत्त्व दोगे तो सत्संगकी बात स्थायी होनेके लिये आपको वक्त ही नहीं मिलेगा !

भगवान्ने आरम्भमें ही कह दिया—**'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व'** (गीता० २।१४) अर्थात् ये सांसारिक चीजें आने-जानेवाली और अनित्य हैं, इनको तुम सह लो। सहनेका अर्थ है कि तुम विकृत मत होओ, राजी-नाराज मत होओ। ये सांसारिक पदार्थ जिसको व्यथा नहीं पहुँचाते, वह मुक्तिका पात्र होता है—**'यं हि न व्यथयन्त्येते····सोऽमृतत्वाय कल्पते'** (गीता २।१५); और जिसको ये व्यथा पहुँचाते हैं, उसकी मुक्ति नहीं होती। मान अच्छा है, अपमान खराब है—इसको पकड़ लिया तो मुक्तिसे वञ्चित रह गये। ये मान-अपमान आदि आपको धोखा देनेवाले हैं। ये तो रहेंगे नहीं, पर आपको मुक्तिसे वञ्चित कर देंगे। इसलिये ठीक-बेठीक सब त्याज्य है, छोड़नेकी चीज है। हम इनसे छूटें कैसे ? कि हम सम रहें। आप अपनी तरफ ख्याल करें। मानके समय आप दूसरे और अपमानके समय आप दूसरे होते हो क्या ? इसलिये इनको न देखकर अपनेमें स्थित रहो, 'स्व' में स्थित रहो—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। इस 'स्व' में स्थितिको ही सत्संगके द्वारा पकड़ना है। सत्संगकी बातोंका सुख नहीं लेना है।

══ ★ ══

कल्याणका सुगम उपाय—अपनी मनचाहीका त्याग

दूसरेके मनकी बात पूरी करनेकी कोशिश करें। दूसरा हमसे क्या चाहता है, जहाँतक हो सके उसके मनकी बात पूरी करनेकी चेष्टा करें। उसके मनकी बात दो तरहकी हो सकती है—एक शुद्ध और एक अशुद्ध। अशुद्ध बात पूरी करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि उसमें उसका हित नहीं है। अगर उसकी चाहना शुद्ध है, उसकी रुचि बढ़िया है, तो उसको पूरा करना हमारा कर्तव्य होता है। दूसरी एक बात और है कि उसकी इच्छा तो शुद्ध है, पर उसको पूरा करना हमारी सामर्थ्यसे बाहरकी बात है, उसको हम पूरा नहीं कर सकते। अतः उसके लिये माफी माँग लें कि मैं आपका यह काम कर नहीं सकता; मेरी सामर्थ्य नहीं है। धनकी, बलकी, विद्याकी, योग्यताकी, अधिकारकी सामर्थ्य नहीं है मेरेमें। अगर सामर्थ्य हो तो जहाँतक बने, उसके मनकी बात पूरी कर दें।

गीतामें कामनाके त्यागकी बात आयी है। जैसे, हमें ऐसा धन मिले, हमारा ऐसा हुक्म चले, हमारी बात रहे—यह जो भीतरका भाव है, यही कामना है। आप विशेष ध्यान दें, इसलिये एक बात याद आ गयी। मैंने पढ़ाईकी, व्याख्यान सुने, पुस्तकें पढ़ीं, खूब विचार किया और व्याख्यान भी खूब देने लग गया। उस समय मैंने सोचा कि कामना क्या है, तो यह बात समझमें आयी कि रुपये-पैसेकी इच्छा, सुख भोगनेकी इच्छा, मान-बड़ाईकी इच्छा आदि—ये सब कामनाएँ हैं। फिर मैंने इन कामनाओंके

त्यागकी बात सोची और इनके त्यागकी कुछ श्रेणियाँ बनायीं। परन्तु कई वर्षोंके बाद जो बात मेरी समझमें आयी, वह बात कहता हूँ आपको। यह इसलिये कहता हूँ कि आप ध्यान दो तो आज ही वह बात आपकी समझमें आ जाय। कई वर्षोंसे जो चीज मिली है, वह पहले ही बता दूँ तो उतना समय आपका बच जायगा ! वह बात यह है कि 'मेरे मनकी बात पूरी हो जाय'—यही कामना है। मेरे मनकी हो जाय—इसको आदमी जबतक नहीं छोड़ेगा, तबतक उसको शान्ति नहीं मिलेगी; वह जलता रहेगा, दुःखी रहेगा, पराधीन रहेगा।

बड़े भारी दुःखकी बात है कि आज उलटी बात हो रही है ? मेरे मनकी बात हो जाय तो मैं स्वतन्त्र हो गया—ऐसा वहम पड़ा हुआ है। कोई हमारे मनकी बात पूरी करेगा तो हमें उसके अधीन होना ही पड़ेगा। हमारे मनकी बात कोई दूसरा पूरी कर दे—इसमें बड़ा आराम दीखता है, पर है महान् संकट ! स्वतन्त्रता दीखती है, पर है महान् पराधीनता ! यह विशेष ख्याल करनेकी बात है। आपको इस वास्ते कही है कि व्याख्यान देते हुए वर्षोंतक यह मेरी समझमें नहीं आयी। आप घरमें यह चाहते हो कि स्त्री-पुत्र मेरे मनके अनुकूल चलें। भाई-बन्धु भी मेरे कहनेमें चलें। माता-पिता भी मेरी रुचिके अनुसार चलें। यह जो बात है न , यह आपके लिये महान् घातक है। यह परमात्माकी प्राप्ति तो नहीं होने देगी, और नरकोंमें जाओगे—इसमें सन्देह नहीं दीखता। इतनी हानिकारक बात है यह !

जब जेलमें व्याख्यान देनेका काम पड़ा, तो कैदियोंको मैंने कहा कि आपने जो काम किये हैं, वे स्वतन्त्रतासे, अपनी रुचिसे किये हैं, पर जेल पराधीनतासे, बिना रुचिके भोगते हैं। तो दुनियामें सब आदमी कैदी हैं। वे अपनी मरजीसे काम करते हैं

और उसका फल पराधीन होकर भोगते हैं। नरक और चौरासी लाख योनियाँ—यह कैदखाना है। यह कैदखाना क्यों मिलता है? कि अपनी मनमानी चलाना चाहते हैं। मनमानी होगी कि नहीं होगी—इसमें तो सन्देह है, पर कैद होगी, दुःख भोगना पड़ेगा—इसमें सन्देह नहीं है। इसलिये अगर आप कर सकें तो कुटुम्बियोंके मनकी बात करें। उनकी बात न्याययुक्त हो; शास्त्र, व्यवहार आदिकी दृष्टिसे अनुचित न हो और हमारी सामर्थ्यके अनुसार हो, तो उसे पूरी कर दो। इससे बहुत विशेष लाभ होगा। कल्याण हो जायगा, उद्धार हो जायगा! परन्तु उनके अन्यायकी बात पूरी नहीं करनी है; क्योंकि ऐसा करनेमें उनका नुकसान है, फायदा नहीं है। उसका हित भी साथमें चाहिये।

एक सुनी हुई बात है। सच्ची-झूठी रामजी जाने, सुनी हुई जरूर है। एक सन्त थे, चुपचाप रहते और उनसे कोई काम कराता तो वह कर देते। यहाँतक कि स्त्रियाँ गारा तैयार करके दे देतीं और कहतीं बाबाजी, आप लीप दो, तो वे लीप देते। उनका पानीका घड़ा उठवा देते, घर पहुँचा देते, झाड़ू लगा देते। जो कहतीं वह कर देते। दूसरा खिला दे तो खिला दे, नहीं तो उसकी मरजी। एक स्त्रीकी सन्तान नहीं थी। उसने बाबाजीकी बहुत सेवा की। उसने खिलाया तो अच्छी तरहसे खा लिया, कपड़ा पहनाया तो कपड़ा पहन लिया। वे आरामसे रहने लगे। कुछ दिनोंके बाद उसने अपनी शय्या बिछा दी और इच्छा प्रकट की कि मेरी सन्तान हो जाय। बाबाजीने कह दिया—'ना'। वह बोली कि आप तो जैसा कहें, वैसा करते हो। बाबाजी बोलते नहीं थे, पर बोल दिये—'बस, यहाँतक ही।' मतलब यह कि यहाँ-तक ही करता हूँ, इससे आगे नहीं, व्यभिचारतक नहीं। ऐसा कहकर बाबाजी वहाँसे चल दिये। अतः वहींतक करना है,

जहाँतक उचित होता है। जहाँ अनुचित होता है, वहाँ कह दिया कि नहीं, यहाँतक ही करता हूँ। जिसमें अपना सुख-भोग हो और दूसरेका अहित हो, वह काम नहीं करना है।

गीता कहती है—**'सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥'** (गीता ६।४) अर्थात् अपने सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग करनेवाला योगी होता है। परन्तु अपने संकल्पोंका त्याग न करनेवाला ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्मयोगी, हठयोगी, तपयोगी, राजयोगी आदि कोई-सा भी योगी नहीं होता—**'न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन॥'**(गीता ६।२)। अगर दूसरोंके संकल्पको पूरा करना सीख जायँ तो अपने संकल्पोंका त्याग सुगमतासे हो जायगा। मेरे मनमें तो यही आयी कि सुननेवालोंके मनकी बात कहनी चाहिये, जिससे उनका भी कल्याण हो, मेरा भी कल्याण हो और कोई तीसरा आदमी सुने तो उसका भी कल्याण हो। अतः सबके साथ अपना दिनभरका, रात्रिभरका व्यवहार ऐसा ही हो। इससे आप सिद्ध हो जाओगे, योगारूढ़ हो जाओगे। यह बात कठिन भी नहीं है। पहले अपनी बात रखनेकी आदतके कारण यह कुछ समय कठिन मालूम देती है, फिर सुगम हो जाती है। अपने अभिमानके कारण कठिन दीखती है, वास्तवमें कठिन नहीं है। इसे सब कर सकते हैं; गृहस्थ, साधु, भाई, बहन, हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी आदि कोई क्यों न हो।

हमारा मनचाहा होता है तो अभिमान आता है और मनचाहा नहीं होता है तो क्रोध आता है। अभिमान और क्रोध—दोनों ही आसुरी सम्पत्ति हैं। अतः अपना संकल्प रखनेवाला आसुरी सम्पत्तिसे बच नहीं सकता। आसुरी सम्पत्ति बाँधनेवाली, जन्म-मरणको देनेवाली है—**'निबन्धायासुरी मता'** (गीता १६।५)। अपना संकल्प नहीं रखे तो आसुरी सम्पत्ति आ ही नहीं सकती।

मुक्ति जितनी सीधी-सरल है, उतना सरल कोई काम है ही नहीं। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—सभी सरल हैं। कठिनता अपनी रुचिकी पूर्ति करनेमें है। इसके सिवाय और क्या कठिनता है? बताओ। जितनी कठिनता आती है, वह इसीमें आती है कि हमारी मनचाही बात हो जाय।

अर्जुनने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप क्यों करता है? तो भगवान्‌ने उत्तर दिया **'काम एष'** (गीता ३।३७) अर्थात् कामना। कामना क्या? मेरी मनचाही हो जाय—यही मूलमें कामना है। मेरेको व्याख्यान देते हुए भी वर्षोंके बाद यह बात मिली तो बड़ी प्रसन्नता हुई कि जड़ तो आज मिली है! मनकी बात पूरी होनेमें स्वतन्त्रता मानते हैं, पर है महान् परतन्त्रता; क्योंकि यह दूसरेके अधीन है। दूसरा हमारी बात पूरी करे—यह हमारे अधीन है क्या? मुफ्तमें कोरी पराधीनताको लेना है, और ***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १।१०२।३)।

श्रोता—महाराजजी! अपनी बात सत्य प्रतीत हो, न्यायके अनुकूल प्रतीत हो, तो उसपर अडिग रहे या न रहे?

स्वामीजी—अगर वह दूसरोंके अधीन है तो उसमें अडिग मत रहो। हमारी बात सत्य है, न्याययुक्त है, कल्याणकारी है, वर्तमानमें और परिणाममें हित करनेवाली है, तो उस बातका हम अनुष्ठान करें। परंतु दूसरा भी वैसा ही करे—यह बिलकुल गलत है। इसमें हमारा अधिकार नहीं है।

श्रोता—पर परिवारमें सब एक-दूसरेसे जुड़े रहते हैं। हमारी बात दूसरा नहीं मानेगा तो उसका बुरा असर सबपर पड़ेगा।

स्वामीजी—वे न करें तो उनको दुःख पाना पड़ेगा। परन्तु उसमें हमारेको दोष नहीं लगेगा। हम अपनी ठीक बात कह दें,

वे मान लें तो खुशीकी बात, न मानें तो बहुत खुशीकी बात। ये दो बातें याद कर लो। न्याययुक्त, हितकी, कल्याणकी बात है और उसको स्त्री, पुत्र, पोता, भतीजा आदि मान लें तो अच्छी बात, न मानें तो बहुत अच्छी बात। बहुत अच्छी बात कैसे हुई? कि हम फँसेंगे नहीं। अगर वे हमारी बात मानते रहेंगे तो हम फँस जायँगे। मैंने तो यहाँ कलकत्तेमें कई वर्षों पहले कह दिया था कि आप मेरा कहना मानते तो मैं फँस जाता। यहाँसे बाहर जा ही नहीं सकता। पर आप कहना नहीं मानते हैं तो यह आपकी कृपा है, मैं खुला रहता हूँ। जो हमारा कहना मानता है, उसके वशमें होना ही पड़ेगा, पराधीनता भोगनी ही पड़ेगी। लोग घर छोड़कर साधु-संन्यासी होते हैं, आप घरमें रहते हुए ही साधु-संन्यासी हो गये; क्योंकि घरवाले आपकी बात मानते ही नहीं। फिर भी जिसमें हमारा, दूसरोंका, सबका हित हो, यह बात कहनी है, चाहे दूसरा माने या न माने।

══ ★ ══

संकल्प—त्यागसे कल्याण

संसार अपने लिये नहीं है। जो अपने लिये संसारकी जरूरत नहीं मानता, वह संसारके लिये उपयोगी हो जाता है; और जो अपने लिये संसारकी जरूरत मानता है, वह संसारके लिये अनुपयोगी हो जाता है, संसारके कामका नहीं रहता। अतः घरमें रहो तो घरवालोंके लिये रहो, आश्रममें रहो तो आश्रमवालोंके लिये रहो, किसी समुदायमें रहो तो समुदायवालोंके लिये रहो, अपने लिये नहीं। उनके लिये हम कब होंगे ? जब अपना कोई संकल्प नहीं रखेंगे। अपना संकल्प रखेंगे तो हम पराधीन हो जायँगे, और अपना संकल्प नहीं रखेंगे तो हम स्वाधीन हो जायँगे। अपना संकल्प क्या है ? ऐसा तो होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह संकल्प है। परमात्माकी प्राप्ति होनी चाहिये—यह संकल्प नहीं है; यह तो आवश्यक तत्त्व है, मनुष्यजन्मका असली प्रयोजन है। संसारकी घटना ऐसी होनी चाहिये, ऐसी नहीं होनी चाहिये; ऐसी परिस्थिति आनी चाहिये, ऐसी परिस्थिति नहीं आनी चाहिये—यह जो चीज है न, यह संकल्प है। हमें मनुष्य-शरीर मिला है, वह परिस्थितिके लिये नहीं मिला है, प्रत्युत परिस्थितियोंसे अतीत तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये मिला है। परिस्थितियोंसे अतीत जो तत्त्व है, वह किसी परिस्थितिके अधीन नहीं है। वह तत्त्व किसी अवस्थाके अधीन नहीं है, किसी योग्यताके अधीन नहीं है, किसी विशेष व्यक्तिके अधीन नहीं है। वह स्वाधीन तत्त्व है। स्वाधीन तत्त्वकी

प्राप्ति स्वाधीनतापूर्वक होती है। इसमें पराधीन नहीं रहना पड़ता। परन्तु संकल्प स्वाधीनतापूर्वक होता ही नहीं। हम भोग चाहते हैं, मान चाहते हैं, आदर चाहते हैं, आराम चाहते हैं, जीना चाहते हैं, लाभ चाहते हैं—ये परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इनकी पूर्तिमें परतन्त्रता रहेगी ही, स्वतन्त्रता हो ही नहीं सकती।

संकल्पोंका कायदा यह है कि कई संकल्प पूरे होते हैं और कई पूरे नहीं होते। यह सबका अनुभव है। संकल्पोंका पूरा होना अथवा न होना हमारे अधीन नहीं है, भगवान्‌के विधानके अधीन है। हम अभिमान कर लेते हैं कि हमने इतना धन कमा लिया, हमारे इतने बेटा-पोता हैं, हमारे इतने श्रोता हैं आदि। परन्तु ये हमारे अधीन नहीं हैं। अगर संकल्पोंकी पूर्ति हमारे अधीन हो, तो फिर कोई संकल्प अधूरा रहना ही नहीं चाहिये, सभी संकल्प पूरे होने चाहिये। भगवान्‌का एक विधान है, उस विधानसे ही ये पूरे होते हैं। मनुष्यका काम है उस विधानका आदर करना। वह भगवान्‌के विधानका आदर करेगा तो उसका कल्याण हो जायगा। उसने भगवान्‌के विधानको स्वीकार कर लिया, तो अब उसके कल्याणमें बाधा देनेवाला कोई है ही नहीं। उसका कभी अहित होता ही नहीं, सदा हित-ही-हित होता है। अतः अपना संकल्प न रखे।

दूसरोंके लिये रहें, अपने लिये नहीं—इसमें परतन्त्रता दीखती है, पर वास्तवमें इसमें स्वतन्त्रता है। माँ-बापके लिये आदर्श बेटा बन जाओ, पत्नीके लिये आदर्श पति बन जाओ, पुत्रके लिये आदर्श पिता बन जाओ, भाईके लिये आदर्श भाई बन जाओ, बहनके लिये आदर्श भाई बन जाओ, समाजके लिये आदर्श सदस्य बन जाओ। परन्तु माँ-बाप हमारे लिये हैं, स्त्री हमारे लिये है, पुत्र हमारे लिये है, जनता हमारे लिये है—ऐसा होगा, तो यह संकल्प हो जायगा और इसमें आप फँस जाओगे।

संकल्पसे ही कामना पैदा होती है—'**संकल्पप्रभवान्कामान्**' (गीता ६। २४)। कामनासे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिनाश, स्मृतिनाशसे बुद्धिका नाश, बुद्धिके नाशसे मनुष्यका पतन हो जाता है (गीता २। ६२-६३)।

श्रोता—महाराज! इतनी कृपा करो कि यह बात काममें आ जाय।

स्वामीजी—मेरी दृष्टिसे तुम ध्यान नहीं देते हो। ध्यान दो तो आँख खुल जाय। यह संकल्प-त्यागकी बात मेरेको इतनी विचित्र दीखती है कि जैसे नींदमें पड़े हुए आदमीकी नींद खुल जाय, बेहोश आदमीको होश आ जाय! इस बातसे इतना फरक पड़ता है! जैसे दूध पीते हुए बालकके मुखसे स्तन हटा दे तो वह छटपटाता है, सह नहीं सकता, पर बल नहीं होनेसे बेचारा करे क्या! ऐसे ही इन बातोंकी आपमें रुचि लगेगी तो न हरेक कथामें ठहर सकोगे, न हरेक परिस्थितिमें ठहर सकोगे। जैसे रुपयोंके लिये आदमी चाहे जो कुछ कर लेता है; माँको छोड़ देता है, स्त्रीको छोड़ देता है, बच्चोंको छोड़ देता है, और जगह चला जाता है कि रुपया मिलेगा। परन्तु यह चीज रुपयोंसे भी बढ़िया है। रुपये तो थोड़े दिनके हैं। या तो रुपये चले जायँगे, या आप रुपये छोड़कर मर जाओगे, परन्तु यह जन्म-जन्मान्तरोंतक साथ रहनेवाली चीज है। ऐसी बढ़िया चीज है कि आदमी निहाल हो जाय, जीवन सफल हो जाय, विलक्षण आनन्द हो जाय, स्वाधीन हो जाय, मुक्त हो जाय! अपना कोई संकल्प न रखे तो योगारूढ़ हो जाय। योगारूढ़ होनेपर एक शान्ति मिलेगी, एक स्वाधीनता मिलेगी, एक विलक्षणता मिलेगी, एक निर्विकल्पता मिलेगी। उसका भी रस नहीं भोगें तो मुक्ति हो जायगी। अगर रस भोगेंगे तो अटक जायँगे—'**सुखसङ्गेन बध्नाति**' (गीता १४। ६)।

मेरा विचार यह होता है कि आप जो पूछें, वही कहूँ। इसका मतलब है कि आपका संकल्प पूरा हो। हमारी बात पूरी हो—ऐसा नहीं। आप कह देते हो कि जो तुम्हारे मनमें आये, वह कहो। तो फिर यह आपके मनकी ही हो गयी। इसमें बड़ा ही आनन्द है। हमें अपने लिये कुछ करना ही नहीं है, अपने लिये कुछ चाहिये ही नहीं, अपना कुछ है ही नहीं। कैसी मौजकी बात है! ***'सदा दीवाली सन्तकी, आठों पहर आनन्द।'*** कोरा आनन्द-ही-आनन्द है!

ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह संकल्प है; परन्तु ऐसा करना चाहिये और ऐसा नहीं करना चाहिये—यह संकल्प नहीं है। करनेमें तो बिलकुल विचारपूर्वक करना है, समझ-समझकर करना है—**'सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्।'** करनेमें सावधान रहना है, और होनेमें प्रसन्न रहना है। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** (गीता २।४७)—कर्म करनेमें ही हमारा अधिकार है, फलमें नहीं। करनेका विचार संकल्प नहीं होता, फलका विचार संकल्प होता है। करनेका विचार तो कर्तव्य होता है। हमारे अनुकूल काम हो; जो हम न चाहें, वह नहीं हो—यह संकल्प है। जो आपके अनुकूल हो जायगा, उसकी पराधीनता आपको भोगनी ही पड़ेगी। मैं शब्द ज्यादा कहता हूँ, पर सच्ची बात है कि भगवान्‌को भी पराधीन होना पड़ता है, आप क्या चीज हो! **'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'** (श्रीमद्भा० ९।४।६३)—मैं भक्तोंके पराधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। भक्त भगवान्‌के संकल्पके अनुसार करता है, इसलिये भगवान्‌को उसका दास होना पड़ता है—***'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणि।'*** आपके मनके अनुसार चलनेवालेका गुलाम आपको

बनना पड़ेगा, पड़ेगा, पड़ेगा ! कोई बचा सकता नहीं ! आपका अपना संकल्प ही नहीं होगा तो आप कभी पराधीन, गुलाम हो ही नहीं सकते।

जैसे बच्चेने कह दिया और आपने कर दिया, तो आपने कृपा करके उसका कहना मान लिया। ऐसे ही संत-महात्मा भी हमारेपर कृपा करके हमारा कहना मान लेते हैं। जिसमें हमारा अनिष्ट न हो, अहित न हो, ऐसी बात कर देते हैं। उनका अपना कोई संकल्प नहीं होता। इसलिये दूसरेके संकल्पके अनुसार काम करना है, अपना संकल्प नहीं रखना है। इसमें हमें बाधा किस बात की ? इसमें हम स्वतन्त्र हैं, पर दीखती है परतन्त्रता-'**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी**।' (गीता १८। ३२)। हमारा संकल्प पूरा होता है, तो उसमें एक सुख मिलता है। वह सुख ही बाँधनेवाला है। उस सुखमें ही मनुष्य पराधीन होता है। जिससे सुख मिलता है, उसका गुलाम हो जाता है। रुपयोंसे सुख मिले तो रुपयोंका गुलाम, परिवारसे सुख मिले तो परिवारका गुलाम, नौकरसे सुख मिले तो नौकरका गुलाम, चेलेसे सुख मिले तो चेलेका गुलाम—जिससे सुख मिले, उसका गुलाम हो ही जायगा। आपने यह कहावत सुनी होगी कि '***गरज गधेको बाप करे।***' आप गरज रखोगे तो गधेको बाप बनाना पड़ेगा। गरज क्या है ? कि हमारी बात पूरी होनी चाहिये, हमारे मनकी होनी चाहिये—यही गरज है। अगर मनुष्य गरजका त्याग कर दे तो वह सबका शिरोमणि हो जाय ! परमात्माका स्वरूप हो जाय ! परमात्मा सबकी चाहना पूरी करते हैं, उनकी चाहना कोई पूरी क्या करे ? उनकी चाहना तो है ही नहीं। इतनी विलक्षण अवस्था हमारी सबकी हो सकती है। केवल अपने संकल्पका त्याग कर दें। त्याग नहीं करनेसे संकल्प तो पूरे होंगे नहीं।

जो संकल्प पूरे होनेवाले हैं, वे त्याग करनेपर भी पूरे होंगे। वह तो भगवान्‌के विधानके अनुसार होगा ही—*राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥* (मानस १। १२८। १)। जो धन आनेवाला है, वह आयेगा; जो मान होनेवाला है, वह होगा। जो चीज आनेवाली है, वह आयेगी ही। हमें मिलनेवाली चीज दूसरेको कैसे मिलेगी ?—**'यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्'**। तो फिर हम उसकी गुलामी क्यों करें। जो नहीं आनेवाली है, उसकी कितनी ही गुलामी करो, वह नहीं आयेगी। फिर हम चिन्ता क्यों करें ? चिन्ता भगवान् करें— *'चिन्ता दीनदयाल को, मो मन सदा आनन्द।'* वे चिन्ता करें , न करें, उनकी मरजी, पर हम तो आनन्दमें रहें। अपना संकल्प रखनेसे ही सुखी-दुःखी होते हैं। अपना संकल्प न रखें तो क्यों सुखी-दुःखी हों ? हमें तो भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना है, जो हमारा कर्तव्य है।

श्रोता—संकल्पसे छूटनेका अत्यन्त सुगम उपाय क्या है ?

स्वामीजी—अत्यन्त सुगम उपाय है कि दूसरा मेरा कहना माने—यह आग्रह छोड़ दे। 'मेरा कल्याण हो जाय'—यह एक ही उद्देश्य बन जाय। जैसे, मनुष्य रुपये कमानेमें लग जाता है तो उसका अपमान करो, निन्दा करो, किसी तरहसे तंग करो, वह सब सह लेता है। इन्सपेक्टर आ करके कई तरहसे तंग करता है , तो कुछ रुपये लेकर छुटकारा करता है। यह सब रुपयोंका लोभ कराता है। ऐसे ही कल्याणका लोभ हो जायगा तो यह बात सुगम हो जायगी। कल्याणका लोभ होनेपर फिर जिस जगह पारमार्थिक लाभ न हो, उस जगह टिक नहीं सकेंगे; जिस सत्संगमें पारमार्थिक लाभ न हो, उस सत्संगमें ठहर नहीं सकेंगे; जिस पुस्तकको पढ़नेसे पारमार्थिक लाभ न हो, वह पुस्तक पढ़ नहीं सकेंगे; जिस व्यक्तिके संगसे पारमार्थिक लाभ न हो, उस व्यक्तिका संग नहीं कर सकेंगे।

★

अपने साधनको सन्देह-रहित बनायें

अपने साधनको निर्मल बनाना चाहिये अर्थात् अपनेमें साधन-विषयक कोई भी शंका नहीं रहनी चाहिये। शंका रहे तो पुस्तकोंसे, प्रश्नोत्तरसे उसको दूर कर लेना चाहिये। संसार सत्य है—ऐसा अगर अपनेको अनुभव होता है, तो इसी बातपर डटे रहो। इसमें कोई सन्देह हो तो उसको दूर करते रहो। उसपर विचार करते रहो। शंकाओंको मत रखो। अपनेमें शंका रखना गलती है। अगर आत्माकी, ब्रह्मकी सत्ता मानते हो तो उसीपर डटे रहो। ईश्वरकी सत्ता मानते हो तो उसीपर डटे रहो। उसमें शंका मत रखो। यह बात मेरेको बहुत बढ़िया लगती है, इसलिये आपको कहता हूँ। जो हम साधन करते हैं, वह इस तरहसे करें कि अपने हृदयको साफ कर दें।

आपको जो बात पसन्द हो, वही पूछो। मैं उसीमें बात बताऊँगा। मैं अपना मत आपपर लादता नहीं कि मेरा मत मान लो, मेरा मत ही ठीक है। आपकी जो मान्यता हो, उसीको मैं पुष्ट कर दूँगा, उसीमें बढ़िया बात बता दूँगा। उसके अनुसार ही आप चलो तो सिद्धि हो जायगी। जैसे, कोई संसारको सत्य मानता है। संसार बहता है, पर मिटता नहीं। संसार जन्मता-मरता रहता है, पर है नित्य। ऐसी जिसकी मान्यता हो, उसको चाहिये कि विवेक-विरोधी कोई काम न करे। संसारको सच्चा तो माने, पर झूठ, कपट, बेईमानी करे—यह ठीक नहीं। कारण कि आपके

साथ कोई झूठ, कपट, बेईमानी करे तो आपको अच्छा नहीं लगता। आपको कोई ठगे तो बुरा लगता है। आपकी कोई चीज चुरा ले तो बुरा लगता है। अतः ऐसा आप न करें। संसारको भले ही सच्चा मानते रहें, पर जिसको आप बुराई समझते हैं, जिसको दूसरा कोई अपने साथ करे—ऐसा नहीं चाहते, उस बुराईको आप बिलकुल छोड़ दें, तो सिद्धि हो जायगी।

श्रोता—अपनेमें जो बुराई है, वह क्या अभ्यास करनेसे छूट जायगी ?

स्वामीजी—बुराई अभ्याससे नहीं छूटती, विचारसे छूटती है। अपनेमें जो बुराई आयी है, उसको सत्संगके द्वारा, शास्त्रोंके द्वारा, सन्तोंके द्वारा ठीक तरहसे समझ करके विचारपूर्वक त्याग दें। बुराई त्यागनेका अभ्यास नहीं होता। त्याग विचारसे होता है, अभ्याससे नहीं। अभ्याससे एक नयी स्थिति बनती है; जैसे—हम रस्सेपर नहीं चल सकते, पर इसका अभ्यास करें तो नटकी तरह हम भी रस्सेपर चल सकते हैं।

श्रोता—अगर कोई अपनेको अज्ञानी मानता है, तो वह क्या करे ?

स्वामीजी—अज्ञानी मानता है तो अज्ञानको दूर करना चाहिये। अज्ञान किसीको भी अच्छा नहीं लगता। किसीसे कहें कि तू अज्ञानी है तो उसे अच्छा लगेगा क्या ? जब अज्ञान आदमीको अच्छा नहीं लगता तो वह अपनेको अज्ञानी कैसे मानेगा ? अपनेमें ज्ञानका अभिमान हो सकता है, अपनेमें अज्ञता रह सकती है, पर अपनेको सर्वथा अज्ञानी नहीं मान सकता, क्योंकि यह परमात्माका अंश है।

श्रोता—भगवान् तो माता-पिता हैं, उनके सामने तो मनुष्य अबोध शिशु ही है।

स्वामीजी—भगवान्‌के सामने ऐसा मानना कि मैं तो अबोध शिशु हूँ, एक बालक हूँ, बेसमझ हूँ—यह बहुत अच्छी चीज है। बेसमझका अर्थ है कि अभी समझना और बाकी है; बिलकुल नहीं समझता—ऐसी बात नहीं है। बालकके सामने मुहर और बतासा रख दो तो वह बतासा ले लेगा, पर मुहर नहीं लेगा। आपको वह बेसमझ दीखता है, पर अपनी दृष्टिसे वह बेसमझ नहीं है। अबोध होते हुए भी वह बोधपूर्वक काम करता है। आपको मुहर बढ़िया दीखती है, पर बच्चेको मुहर बढ़िया नहीं दीखती। उसकी समझमें मुहरमें कोई स्वाद नहीं, पर बतासा मीठा लगता है; अतः मुहरका वह क्या करे ? अपनी समझमें वह बढ़िया चीज लेता है। बतासा लेता है तो बोधपूर्वक ही लेता है, बेसमझीसे नहीं। ऐसे ही आपलोग धनमें, भोगोंमें लगे हुए हो और इसको अच्छा समझते हो, पर ज्ञानीकी दृष्टिमें बिलकुल पापमें लगे हो और नरकोंमें, जन्म-मरणमें, दुःखमें जा रहे हो। परन्तु ऐसा कहनेपर आप मानते नहीं। बस, किसी तरहसे धन ले ही लो, भोग भोग ही लो। हम चाहे अज्ञानी कह दें, तो भी अपनेको अज्ञानी थोड़े ही मानोगे ? कहनेपर बुरा लगेगा, सहोगे नहीं।

मैं अपने-आपको भी पूरा जानकार नहीं मानता हूँ। मैं सब विषयमें ठीक जानता हूँ—ऐसा मेरेको जँचता नहीं। किसी विषयमें मैं जानता हूँ तो उसको कह देता हूँ, पर मैं बड़ा जानकार हूँ, यह मेरे मनमें आती ही नहीं। इससे क्या होगा ? कि और जानकारी बढ़ेगी। अगर अपनेको जानकार मान लिया तो जानकारी बढ़नी समाप्त हो जायगी; क्योंकि भरे घड़ेको और क्या भरें, उसमें गुंजाइश ही नहीं। जानकारी तब बढ़ेगी, जब अपनेमें कमी मालूम देगी। पुस्तकोंमें हमने ऐसा पढ़ा है कि किसी भी कक्षामें रहें, अज्ञान (अनजानपना) आगे रहेगा—**'अज्ञानं**

पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ।' आपको कई बातें आती हैं, पर जूती बनानी आती है क्या ? कहना ही पड़ेगा कि मैं नहीं जानता। अतः कहीं-न-कहीं तो अनजानपना रहेगा ही।

बहुत वर्षोंकी बात है, देशनोकमें चातुर्मास था। वहाँ मैंने कहा कि यह छोटा बालक मेरेसे ज्यादा जानकार है। कहा कैसे ? मेरेसे कोई पूछे कि इस बालककी माँ कौन-सी है, तो मैं नहीं बता सकता। परन्तु इस बालकसे कोई पूछे तो यह बता देगा कि अमुक मेरी माँ है। अतः यह ज्यादा जानकार हुआ कि नहीं ? किसी विषयमें यह जानकार है, किसी विषयमें मैं जानकार हूँ, तो टोटलमें बराबर ही हुए। इसलिये मैं जानकार हूँ—यह अभिमान करना गलतीकी बात है।

सर्वथा जानकार तो केवल परमात्मा ही हैं। जो तत्त्वज्ञ है, जीवन्मुक्त है, वह तत्त्वके विषयमें तो जानकार है, पर बहुत-से विषयोंमें अनजान है। जो वास्तवमें तत्त्वको जाननेवाले हैं, उनमें जाननेका अभिमान नहीं होता। अगर अभिमान होता है तो तत्त्वको जाना ही नहीं। अभिमान तो किसी व्यक्तित्वको लेकर, किसी विशेषताको लेकर ही होता है। स्थूल शरीरकी स्थूल जगत्के साथ एकता है। सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म जगत्के साथ एकता है। कारण शरीरकी, कारण जगत्के साथ एकता है। आत्माकी आत्माके साथ एकता है। अतः एक देशमें वह विशेषता कैसे मानेगा ? अगर मानेगा तो वह अज्ञानी हुआ।

श्रोता—महाराजजी ! मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह अभिमान क्या पतन करनेवाला नहीं है ?

स्वामीजी—नहीं, यह तो भगवान्का भजन है। भगवान्में ही अपनापन दीखना चाहिये। दूसरेमें अपनापन नहीं दीखना

स्वामीजी—भगवान्‌के सामने ऐसा मानना कि मैं तो अबोध शिशु हूँ, एक बालक हूँ, बेसमझ हूँ—यह बहुत अच्छी चीज है। बेसमझका अर्थ है कि अभी समझना और बाकी है; बिलकुल नहीं समझता—ऐसी बात नहीं है। बालकके सामने मुहर और बतासा रख दो तो वह बतासा ले लेगा, पर मुहर नहीं लेगा। आपको वह बेसमझ दीखता है, पर अपनी दृष्टिसे वह बेसमझ नहीं है। अबोध होते हुए भी वह बोधपूर्वक काम करता है। आपको मुहर बढ़िया दीखती है, पर बच्चेको मुहर बढ़िया नहीं दीखती। उसकी समझमें मुहरमें कोई स्वाद नहीं, पर बतासा मीठा लगता है; अतः मुहरका वह क्या करे ? अपनी समझमें वह बढ़िया चीज लेता है। बतासा लेता है तो बोधपूर्वक ही लेता है, बेसमझीसे नहीं। ऐसे ही आपलोग धनमें, भोगोंमें लगे हुए हो और इसको अच्छा समझते हो, पर ज्ञानीकी दृष्टिमें बिलकुल पापमें लगे हो और नरकोंमें, जन्म-मरणमें, दुःखमें जा रहे हो। परन्तु ऐसा कहनेपर आप मानते नहीं। बस, किसी तरहसे धन ले ही लो, भोग भोग ही लो। हम चाहे अज्ञानी कह दें, तो भी अपनेको अज्ञानी थोड़े ही मानोगे ? कहनेपर बुरा लगेगा, सहोगे नहीं।

मैं अपने-आपको भी पूरा जानकार नहीं मानता हूँ। मैं सब विषयमें ठीक जानता हूँ—ऐसा मेरेको जँचता नहीं। किसी विषयमें मैं जानता हूँ तो उसको कह देता हूँ, पर मैं बड़ा जानकार हूँ, यह मेरे मनमें आती ही नहीं। इससे क्या होगा ? कि और जानकारी बढ़ेगी। अगर अपनेको जानकार मान लिया तो जानकारी बढ़नी समाप्त हो जायगी; क्योंकि भरे घड़ेको और क्या भरें, उसमें गुंजाइश ही नहीं। जानकारी तब बढ़ेगी, जब अपनेमें कमी मालूम देगी। पुस्तकोंमें हमने ऐसा पढ़ा है कि किसी भी कक्षामें रहें, अज्ञान (अनजानपना) आगे रहेगा—'**अज्ञानं**

पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ।' आपको कई बातें आती हैं, पर जूती बनानी आती है क्या ? कहना ही पड़ेगा कि मैं नहीं जानता । अतः कहीं-न-कहीं तो अनजानपना रहेगा ही ।

बहुत वर्षोंकी बात है, देशनोकमें चातुर्मास था । वहाँ मैंने कहा कि यह छोटा बालक मेरेसे ज्यादा जानकार है । कहा कैसे ? मेरेसे कोई पूछे कि इस बालककी माँ कौन-सी है, तो मैं नहीं बता सकता । परन्तु इस बालकसे कोई पूछे तो यह बता देगा कि अमुक मेरी माँ है । अतः यह ज्यादा जानकार हुआ कि नहीं ? किसी विषयमें यह जानकार है, किसी विषयमें मैं जानकार हूँ, तो टोटलमें बराबर ही हुए । इसलिये मैं जानकार हूँ—यह अभिमान करना गलतीकी बात है ।

सर्वथा जानकार तो केवल परमात्मा ही हैं । जो तत्त्वज्ञ है, जीवन्मुक्त है, वह तत्त्वके विषयमें तो जानकार है, पर बहुत-से विषयोंमें अनजान है । जो वास्तवमें तत्त्वको जाननेवाले हैं, उनमें जाननेका अभिमान नहीं होता । अगर अभिमान होता है तो तत्त्वको जाना ही नहीं । अभिमान तो किसी व्यक्तित्वको लेकर, किसी विशेषताको लेकर ही होता है । स्थूल शरीरकी स्थूल जगत्के साथ एकता है । सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म जगत्के साथ एकता है । कारण शरीरकी, कारण जगत्के साथ एकता है । आत्माकी आत्माके साथ एकता है । अतः एक देशमें वह विशेषता कैसे मानेगा ? अगर मानेगा तो वह अज्ञानी हुआ ।

श्रोता—महाराजजी ! मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं—यह अभिमान क्या पतन करनेवाला नहीं है ?

स्वामीजी—नहीं, यह तो भगवान्का भजन है । भगवान्में ही अपनापन दीखना चाहिये । दूसरेमें अपनापन नहीं दीखना

चाहिये। एक भगवान् ही मेरे हैं, और कोई मेरा नहीं। ये शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि कोई मेरे नहीं।

आज मनमें यह आयी कि किसी बातको आप मानो, किसी साधनमें चलो, उसमें सन्देह-रहित होकर, सुलझ करके चलो तो जरूर लाभ होगा। परंतु अपनेमें अज्ञान है और साथमें संशय रखता है तो उसका पतन हो जायगा—**'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति'** (गीता ४।४०)। उसका न यह लोक ठीक होगा, न परलोक ठीक होगा और न सुख ही मिलेगा—**'नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः'** (गीता ४।४०)।

मनुष्य-जीवनकी सफलता

मनुष्य-जीवन तभी सफल होता है, जब कुछ भी 'करना' बाकी न रहे, कुछ भी 'जानना' बाकी न रहे और कुछ भी 'पाना' बाकी न रहे। जो करना था, सब कर लिया; जो जानना था, सब जान लिया; और जो पाना था, सब पा लिया—इस प्रकार पूरा कर ले, पूरा जान ले और पूरा पा ले तो मनुष्य-जन्म सफल हो जाता है। इन तीनोंमेंसे अगर एक भी पूरा हो जाय तो बाकी दो आपसे-आप पूरे हो जायँगे। 'करना' पूरा हो जाय तो जानना और पाना भी पूरा हो जायगा। 'जानना' पूरा हो जाय तो करना और पाना भी पूरा हो जायगा। 'पाना' पूरा हो जाय तो करना और जानना भी पूरा हो जायगा। ये तीनों ही हम कर सकते हैं। हम ये ही कर सकते हैं, और कुछ नहीं कर सकते; यह विलक्षण बात है।

करना कब पूरा होगा?—आपलोग ध्यान देकर सुनें, बहुत बढ़िया बात है। करना तब पूरा होगा, जब अपने लिये कुछ नहीं करेंगे। अपने लिये करनेसे करना कभी पूरा होगा ही नहीं, सम्भव ही नहीं। कारण कि करनेका आरम्भ और समाप्ति होती है, और आप वही रहते हैं। अतः अपने लिये करनेसे करना बाकी रहेगा ही। करना बाकी कब नहीं रहेगा? जब अपने लिये न करके दूसरोंके लिये ही करेंगे। घरमें रहना है तो घरवालोंकी प्रसन्नताके लिये रहना है। अपने लिये घरमें नहीं रहना है। समाजमें रहना है तो समाजवालोंके लिये रहना है, अपने लिये नहीं। माँ है तो माँके लिये मैं हूँ, मेरे लिये माँ नहीं। माँकी सेवा

करनेके लिये, माँकी प्रसन्नताके लिये मैं हूँ; इसलिये नहीं कि माँ मेरेको रुपया दे दे, गहना दे दे, पूँजी दे दे। यहाँसे आप शुरू करो। स्त्रीके लिये मैं हूँ, मेरे लिये स्त्री नहीं। मेरेको स्त्रीसे कोई मतलब नहीं। उसके पालन-पोषणके लिये, गहने-कपड़ोंके लिये, उसके हितके लिये, उसके सुखके लिये ही मेरेको रहना है। मेरे लिये स्त्रीकी जरूरत नहीं। बेटोंके लिये ही मैं हूँ, मेरे लिये बेटे नहीं। इस तरह अपने लिये कुछ करना नहीं होगा, तब कृतकृत्य हो जाओगे। परन्तु यदि अपने लिये धन भी चाहिये, अपने लिये माँ-बाप चाहिये, अपने लिये स्त्री चाहिये, अपने लिये भाई चाहिये तो अनन्त जन्मोंतक करना पूरा नहीं होगा। अपने लिये करनेवालेका करना कभी पूरा होता ही नहीं, होगा ही नहीं, हुआ ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसमें आप सबका अनुभव बताता हूँ।

किसी भी कामको करनेसे पहले मनमें आती है कि अमुक काम करना है। मनमें आनेसे पहले आप जिस स्थितिमें थे, काम पूरा करनेके बाद आप पुनः उसी स्थितिमें आ जाते हैं। मिला क्या ? कुछ नहीं मिला। जैसे, पहले व्याख्यान देनेकी मनमें नहीं थी। फिर व्याख्यान देनेकी मनमें आयी और व्याख्यान दिया। व्याख्यान देनेके बाद मनमें व्याख्यान देनेकी नहीं रही तो वही पहलेवाली स्थितिमें आ गये। नयी बात क्या हुई ? ऐसे ही पहले पढ़नेकी मनमें नहीं थी, फिर मनमें पढ़नेकी आयी और फिर विद्या पढ़ी। अब पढ़नेकी मनमें नहीं रही। अतः पहले पढ़नेकी मनमें नहीं थी, उसी स्थितिमें पीछे आये।

श्रोता—विद्या पढ़नेके बाद स्थितिमें फरक पड़ गया; विद्याकी जानकारी हुई ?

स्वामीजी—अब मेरेको विद्या नहीं पढ़नी है—यह जो आपकी खुदकी स्थिति है, उस स्थितिमें क्या फरक पड़ा ?

विद्याका तो बुद्धिमें संग्रह हुआ। जैसे, धन कमानेकी पहले इच्छा नहीं थी। फिर इच्छा हुई कि धन कमा करके इकट्ठा कर लूँ। फिर धन कमाया और धन कमाकर इकट्ठा कर लिया। इसके बाद फिर धन कमानेकी मनमें नहीं रही, तो आपमें खुदमें क्या फरक पड़ा ? यह थोड़ी गहरी बात है। गहरा उतरकर देखो तो विद्या पढ़नेपर बुद्धिमें विद्याका संग्रह होता है। बुद्धिके साथ घुले-मिलें होनेसे ऐसा दीखता है कि हमारेको विद्या आ गयी। अगर लकवा मार जाय तो सब भूल जाओगे। अतः वास्तवमें विद्या आपके पास नहीं आयी है, बुद्धिके पास आयी है। उससे आपको क्या मिला ? शरीरसे आपको क्या मिला ? इन्द्रियोंसे आपको क्या मिला ? मनसे आपको क्या मिला ? बुद्धिसे आपको क्या मिला ? अहंतासे भी आपको क्या मिला ? आप तो अहंता (मैं-पन) के भी प्रकाशक हैं।

जैसे यह संसार दीखता है, ऐसे ही यह शरीर भी दीखता है, प्राण भी दीखते हैं, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ भी दीखती हैं, मन-बुद्धि भी दीखते हैं। सूक्ष्मतासे देखनेपर मैं-पन भी दीखता है, उसका भी आपको ज्ञान होता है। मैं-पन आपमें है, पर आप मैं-पनमें नहीं हैं। आपकी स्थिति तो स्वरूपमें है। वह स्वरूपमें स्थिति पहलेसे ही है। कुछ-न-कुछ करनेकी मनमें आनेसे संसारमें स्थिति हुई और कार्य पूरा होनेपर पुनः अपने स्वरूपमें स्थिति हुई। जैसे घाणी-(कोल्हू-) का बैल जहाँसे चलना शुरू करता है, वहाँ ही वापस आ जाता है और इस प्रकार उम्रभर चलता है, पर कहीं नहीं जाता, वहाँ-का-वहाँ ही रहता है। ऐसे ही उम्रभर करते रहो, कुछ नहीं मिलेगा, वहाँ-के-वहाँ ही रहोगे। परन्तु अपने लिये कुछ करना है ही नहीं—ऐसा होनेपर कृतकृत्य हो जाओगे। क्या बाधा लगी कृतकृत्य होनेमें ?

क्या कहें सज्जनो ! बात बहुत विलक्षण है। मेरे मनमें आती है कि आप सब-के-सब लोग इस बातको समझ सकते हो। सब-के-सब कृतकृत्य हो सकते हो, सब-के-सब ज्ञात-ज्ञातव्य हो सकते हो और सब-के-सब प्राप्त-प्राप्तव्य हो सकते हो। इसके सिवा आप कुछ नहीं हो सकते हो। ऐसा होनेकी पूरी ताकत आपमें है। इसके सिवा कोई ताकत आपमें नहीं है। इसको हरेक आदमी कर सकता है। वह पापी है कि धर्मात्मा है, विद्वान् है कि अविद्वान् है, योग्य है कि अयोग्य है, धनी है कि निर्धन है, किसी डिग्रीको प्राप्त है कि नहीं है, किसीकी किञ्चिन्मात्र भी जरूरत नहीं है। किसी तरहकी योग्यताकी जरूरत नहीं, किसीके बलकी जरूरत नहीं, किसी विद्वत्ताकी जरूरत नहीं। जरूरत केवल यही है कि 'ऐसा मैं हो जाऊँ'—यह लगन लग जाय। इसपर आप विचार करो, अपनी उलझनको सुलझाओ। यह करना है, वह पाना है, वह लाना है, वहाँ जाना है, उससे मिलना है, उससे यह कराना है आदि आफत मोल ले रहे हो ! गहरा विचार करो तो बिलकुल सुलझ जाओगे, शान्ति मिल जायगी, आनन्द हो जायगा। आपके लिये करना कुछ बाकी नहीं रहेगा। आज मर जाओ तो कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि काम हमारा पूरा हो गया। आप कृपा करके इस बातको समझो।

करना तो दूसरोंके लिये है और जानना खुदको है। खुदको जान जाओ तो जानना बाकी नहीं रहेगा। खुदको नहीं जानोगे तो कितनी ही विद्याएँ पढ़ लो, कितनी ही लिपियाँ पढ़ लो, कितनी ही भाषाओंका ज्ञान कर लो, कितने ही शास्त्रोंका ज्ञान कर लो, पर जानना बाकी ही रहेगा। स्वयंको साक्षात् कर लिया, स्वरूपका बोध हो गया, तो फिर जानना बाकी नहीं रहेगा। ऐसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी, तो फिर कुछ प्राप्त करना बाकी नहीं

रहेगा। दूसरोंके लिये करना, स्वरूपको जानना और परमात्माको पाना—इन तीनोंके सिवा आप कुछ नहीं कर सकते, कुछ नहीं जान सकते और कुछ नहीं पा सकते। कारण कि इन तीनोंके सिवा आप कुछ भी करोगे, कुछ भी जानोगे और कुछ भी पाओगे, तो वह सदा आपके साथ नहीं रहेगा और न आप उसके साथ सदा रहोगे। जो सदा साथ न रहे, उसको करना, जानना और पाना केवल वहम ही है।

भागवतमें तीन योग* बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगमें 'करना' है, ज्ञानयोगमें 'जानना' है और भक्तियोगमें 'पाना' है। इन तीनोंमेंसे कोई एक कर लो तो बाकी दो साथमें हो ही जायँगे। भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी तो जानना और करना बाकी नहीं रहेगा। स्वरूपको ठीक जान जाओगे तो भगवान् भी मिल जायँगे और करना भी समाप्त हो जायगा। करना पूरा कर लिया तो जानना भी हो जायगा और पाना भी हो जायगा।

श्रोता—खुदको जानना क्या है ?

स्वामीजी—खुदको जानना यह है कि जैसे आपने कपड़े पहने हुए हैं, तो क्या कपड़े आप हो ? नहीं। चमड़ा आप हो ? नहीं। मांस आप हो ? नहीं। खून आप हो ? नहीं। नाड़ियाँ आप हो ? नहीं। पेटमें मल-मूत्र भरा है, वह आप हो ? नहीं। आँतें आप हो ? नहीं। ये मैं नहीं हूँ। अतः जो मैं नहीं हूँ, उसको 'मैं हूँ' मत मानो तो खुदको जान जाओगे। कितनी सुगम बात है ! एक बार मान लिया कि यह मैं नहीं हूँ, तो फिर उसे 'मैं हूँ' मत मानो, थूक कर मत चाटो। अपने-आपको जानना, अपने लिये कुछ

---

* योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

न करना और परमात्माको पाना—तीनों ही बहुत सुगम हैं। चाहे जिस तरफ चलो, आपकी मरजी।

देखो, एक बात कहता हूँ। बात तो अभिमानकी है,पर मैं अभिमानपूर्वक नहीं कहता हूँ। मैंने खोज की है और खोज कर रहा हूँ, किस बातकी ? कि सुगमतासे कल्याण हो जाय और चट हो जाय। शास्त्रकी प्रक्रियाके अनुसार तो श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान, सविकल्प और निर्विकल्प समाधि, फिर सबीज और निर्बीज समाधि हो जाय, तब कल्याण होता है। यह शास्त्रकी प्रक्रिया मेरी सीखी हुई है। इसमें मैंने थोड़ी माथापच्ची भी की है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान थोड़ा-बहुत मैंने किया है। पर बात इतनी ही है कि 'यह मैं नहीं हूँ।' अब इतनी बातके लिये पहाड़ क्या खोदना !

मैं तो सीधी-सादी बात बताता हूँ। पर भाई-बहनोंको विश्वास नहीं होता। अरे भाई ! मैं आपसे ठगाई नहीं करता हूँ, आपको धोखा नहीं देता हूँ, आपके साथ विश्वासघात नहीं करता हूँ। आपको जल्दी-से-जल्दी अनुभव हो जाय, वह बात बताता हूँ। उसमें आप आड़ लगाते हो कि जल्दी कैसे हो जायगा, उसको जल्दी नहीं हुआ तो हमें कैसे जल्दी हो जायगा ? मैं कहता हूँ कि आप करके देखो, अगर जल्दी न हो तो लम्बे रास्तेपर चले जाना। मैं उसके लिये मना तो करता नहीं हूँ। जैसा मैं कहूँ, वैसा करो। अगर जल्दी हो जाय तो नफा ही है, नहीं तो देरीवाला मार्ग आपके लिये सदासे खुला ही है। आपको बाधा क्या लगी ? मेरे कहे अनुसार करोगे तो लम्बे रास्तेमें आपको बहुत सहायता मिलेगी अथवा उसकी जरूरत नहीं रहेगी। मेरेसे पूछो तो लम्बे रास्तेपर चलनेकी जरूरत ही नहीं रहेगी। देखो, यह बात जल्दी हाथ नहीं लगती। इस बातका लोगोंको पता नहीं है। मुझे तो खुदको पता नहीं था। किसी योग्यता, विद्या, ध्यान,

समाधि आदिके बिना सीधी वह स्थिति प्राप्त हो जाय, जिसमें कुछ करना, जानना, पाना बाकी न रहे—इसका मुझे पता नहीं था। जब पता नहीं था, तब संयम किया, एकान्तमें रहा, किसीसे मिलना छोड़ दिया। आपको आश्चर्य आयेगा कि रोटी भी तौलकर खाता। साग-रोटी तौल ली कि बस, इससे अधिक नहीं खाना। इतना ही सोना है, इससे अधिक नहीं सोना। अपने पास बहुत ही कम चीजें रखनी। किसीसे कोई चीज माँगनी नहीं। यह चीज मेरे पास नहीं है—ऐसा किसीसे कभी नहीं कहना। इस प्रकार मैं वर्षों रहा हूँ। कितनी-कितनी कठिनता भोगी है, बताऊँ तो आप आश्चर्य करें। मैं जानता हूँ कि साधु माँग नहीं करे तो उसकी इज्जत बढ़ जायगी, बड़ी शान्ति मिलेगी। अगर वह माँग करेगा तो महान् मँगता हो जायगा, नीचा हो जायगा। जिससे माँगता है, उसका गुलाम तो हो ही जायगा। ये बातें कहना बढ़िया नहीं है, पर आपको विश्वास करानेके लिये कहता हूँ कि मैंने वह सब करके देखा है। वह भी एक रास्ता है, पर लम्बा है। किया साधन निष्फल नहीं जायगा, पर बहुत देरी लगेगी। मेरी धुन तो यह है कि जल्दी-से-जल्दी सिद्धि कैसे हो। अब भी मैं इसी खोजमें हूँ।

हमारे लिये कुछ चाहिये यही मरण है। हमारे लिये दवाई चाहिये, हमारे लिये कपड़े चाहिये, हमारे लिये मकान चाहिये, हमारे लिये सवारी चाहिये, तो वह महान् नीचा हो गया। चीजोंका गुलाम हो गया तो नीचा ही हुआ, ऊँचा कैसे हुआ? मेरेको माँगनेवाला बहुत बुरा लगता है, मेरेको कोई जूता मारे—ऐसा लगता है। मेरे साथ रह करके कोई साधु यह सवाल उठाये कि मेरेको यह चीज चाहिये, तो यह महान् बेइज्जती है; साधुपना तो है ही नहीं, मनुष्यपना भी नहीं है! मनुष्यकी जरूरत दूसरोंको होती है। रोटी भी न मिले तो नहीं सही। आप कहेंगे कि रोटी

न खानेसे मर जायँगे, तो क्या रोटी खाते-खाते नहीं मरेंगे ? चाहे भूखे मरो, चाहे खाते-खाते मरो, मरना तो है ही। फिर गुलामी लेकर क्यों मरें ? तुच्छता लेकर, तिरस्कृत होकर, पददलित होकर क्यों मरें ? मरें तो इज्जतसे मरें। कुछ न माँगनेसे बहुत शान्ति मिलती है, बहुत आनन्द मिलता है। थोड़ी तकलीफ उठानी पड़ती है, पर आनन्द बहुत मिलता है। जीवन सफल हो जाता है। फायदा इतना होता है, जिसका कोई ठिकाना नहीं। ऐसा फायदा होता है, जो कभी किसी जन्ममें नहीं हुआ।

एक साधुकी बात सुनी। कुछ साधु बद्रीनारायण गये थे। वहाँ एक साधुकी अँगुलीमें पीड़ा हो गयी, तो किसीने कहा कि आप पीड़ा भोगते हो, यहाँ अस्पताल है, सबका मुफ्तमें इलाज होता है। आप जा करके पट्टी बँधवा लो। उस साधुने उत्तर दिया कि यह पीड़ा तो मैं भोग लूँगा, पर मैं किसीको पट्टी बाँधनेके लिये कहूँ—यह पीड़ा मैं नहीं सह सकूँगा ! ऐसे त्यागका उदाहरण भी मेरेको यह एक ही मिला, और कोई उदाहरण नहीं मिला मेरेको। मेरेको यह बात इतनी बढ़िया लगी कि वास्तवमें यही साधुपना है, यही मनुष्यपना है। जैसे कुत्ता टुकड़ेके लिये फिरे, ऐसे जगह-जगह फिरनेवालेमें मनुष्यपना ही नहीं है, साधुपना तो दूर रहा। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गृहस्थी थे, पर वे भी कहते कि भजन करना हो तो मनसे पूछे कि कुछ चाहिये ? तो कहे कि कुछ नहीं चाहिये। ऐसा कहकर फिर भजन करे। जब गृहस्थाश्रममें रहनेवाले भी यह बात कह रहे हैं, तो फिर साधुको क्या चाहिये ?

श्रोता—महाराजजी ! हमारा काम कैसे चलेगा ?

स्वामीजी—हमें काम चलाना ही क्यों है, बन्द करना है।

श्रोता—शरीरमें रोग हो गया तो दवाईके बिना काम कैसे चलेगा ?

स्वामीजी—काम नहीं चलेगा तो क्या होगा ? मर जाओगे। तो दवाई खानेवाले नहीं मरते क्या ?

श्रोता—तकलीफ पाकर मरेंगे।

स्वामीजी—दवाई खानेवाले तकलीफ नहीं पाते हैं क्या ? दवाई खाते-खाते अन्तमें हार करके, थक करके मरेंगे तो तकलीफ उठाकर ही मरेंगे। बात तो वह-की-वह ही है। भीतरमें किसीसे चाहना नहीं होगी तो पराधीनताका दुःख नहीं पाना पड़ेगा। मौज रहेगी, आनन्द रहेगा।

एक आदमी त्याग करता है और एक दरिद्री है। त्यागीके पास भी पैसा नहीं है और दरिद्रीके पास भी पैसा नहीं है। पैरमें जूती नहीं, सिरपर छाता नहीं, अंटीमें दाम नहीं ! अवस्था दोनोंकी बराबर ही है, पर भीतरसे हृदय भी बराबर है क्या ? त्यागीके हृदयमें एक विलक्षण आनन्द रहता है, जो पराधीन होनेसे नहीं मिलता। जिसको अमुक चीज चाहिये, अमुक दवाई आदि चाहिये, वह महान् पराधीन है।

श्रोता—रोगसे पीड़ा होती है।

स्वामीजी—वैशाखके महीनेमें जो पञ्चाग्नि तपता है—दोपहरके समय ऊपरसे सूर्य तप रहा है और चारों तरफ अग्नि जलाकर बीचमें बैठा है, उस तपस्वीको क्या पीड़ा नहीं होती ? वह तप तो उसका मनगढ़ंत है, पर यह रोगरूपी तप भगवान्‌का दिया हुआ है। बताओ, कौन-सा तप बढ़िया है ? अतः रोग होनेपर ऐसा माने कि भगवान्‌की इच्छासे तप हो रहा है, तो पीड़ामें भी आनन्द आयेगा। एक व्रत रखता है, कुछ खाता नहीं और एकको अन्न नहीं मिलता। दोनों ही भूखे रहते हैं। परन्तु व्रत रखनेवालेके मनमें अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता, प्रसन्नता होती है।

═══ ★ ═══

मुक्ति स्वतःसिद्ध है

लोगोंने प्रायः ऐसा मान रखा है कि हम उद्योग करके विशेष स्थिति प्राप्त कर लेंगे, तब हमारा कल्याण होगा। यह बात अच्छी है, पर पूरी अच्छी नहीं। वास्तवमें कल्याण, मुक्ति स्वतःसिद्ध है। वह करनेसे नहीं होती। परन्तु आज यह बात कहनेवाला आदमी अपराधी होता है! लोग उसका विरोध करते हैं कि यह ठीक नहीं कहता है, गलत कहता है। परन्तु वास्तवमें बात ऐसी ही है। हम कुछ भी करेंगे तो वह प्रकृतिजन्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध जोड़े बिना हो ही नहीं सकेगा। पदार्थोंसे सम्बन्ध जोड़ना ही बन्धन है। हम कुछ भी करेंगे तो शरीरकी सहायता लेंगे, इन्द्रियोंकी सहायता लेंगे, बुद्धिकी सहायता लेंगे, कम-से-कम एक देशमें 'अहम्' को पकड़कर ही कुछ करेंगे। अगर अपनेको एक देशमें नहीं पकड़ेंगे, किसीमें ममता नहीं करेंगे, तो हमारेसे करना कैसे बनेगा? अतः करनेसे मुक्ति नहीं होती। करनेसे जो चीज होती है, वह नाशवान् होती है। कारण कि प्रत्येक क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है। क्रियासे जो फल मिलता है, उसका भी संयोग और वियोग होता है। जो की जाती है, वह चीज नित्य नहीं होती।

मुक्ति त्यागसे होती है। पदार्थ और क्रियारूपसे जो प्रकृति है, उसके साथ हमारी ममता और अहंता न हो तो हमारी स्वतः मुक्ति है। हमने ही ममता और अहंता करके बन्धन कर रखा है। वह हम छोड़ेंगे तो छूटेगा, नहीं तो न गुरु छुड़ा सकते हैं, न संत छुड़ा सकते हैं और न भगवान् ही छुड़ा सकते हैं। भगवान् तभी

छुड़ा सकते हैं, जब आप अपनेको भगवान्‌के सुपुर्द कर दोगे, अन्यथा भगवान् स्वतः किसीको भी नहीं छुड़ाते। जितने भी अच्छे पुरुष होते हैं, वे किसीपर भी अपना मत नहीं लादते कि तुम ऐसा ही करो। पूछो तो समाधान कर देंगे, हितकी बात कह देंगे; परन्तु जबर्दस्ती नहीं करेंगे। भगवान् भी जबर्दस्ती नहीं करते। हम यह तो कह देते हैं कि भगवान्‌को हमारा उद्धार कर देना चाहिये, पर अगर हम भगवान्‌के शरण हुए ही नहीं तो वे हमारा उद्धार कैसे कर देंगे ? किसीकी स्वतन्त्रताको भगवान् छीनते नहीं। आप सब तरहसे भगवान्‌को स्वतन्त्रता दे दो, तो भगवान् सब काम कर देंगे।

आपकी अहंता और ममता ही पतन करनेवाली चीज है। इनको आप किसी तरहसे छोड़ दो, तो उद्धार हो जायगा। बात इतनी विलक्षण है कि जिसकी मैं महिमा नहीं कह सकता ! अगर हम शरीरकी ममता सर्वथा छोड़ दें तो शरीर प्रायः बीमार नहीं होगा। इन्द्रियोंकी ममता छोड़ दें तो इन्द्रियोंमें बुराई नहीं रहेगी। मनकी ममता छोड़ दें तो मनमें बुराई नहीं रहेगी। बुद्धिकी ममता छोड़ दें तो बुद्धिमें बुराई नहीं रहेगी। ऐसे ही मैं-पनके साथ जो ममता (अपनापन) है, उसका त्याग कर दें तो कोई बुराई नहीं रहेगी। मूल बात यह है कि बुराई केवल हमारे सम्बन्ध जोड़नेसे आयी है। हम जितना सम्बन्ध जोड़ करके आग्रह करते हैं, ममता करते हैं, उतनी उसमें बुराई आती है, अशुद्धि आती है। अगर सर्वथा ममता और अहंता छोड़ दें तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। यह बात समझमें आनी कठिन है। ध्यान दें तो समझमें आ जायगी। परन्तु इस तरफ भाई लोग ध्यान देते ही नहीं !

अब एक प्रश्न है कि मुक्ति होनेसे जीवोंका जन्म-मरण मिट जायगा तो संसार ही मिट जायगा ! क्योंकि जितने जीवोंकी मुक्ति होगी, उतने जीव संसारमें कम हो जायँगे और इस प्रकार कम

होते-होते सर्वथा मिट जायँगे। इसलिये मुक्ति होनेके बाद फिर जन्म नहीं होता—यह बात नहीं है। जीव महाप्रलयतक जन्म नहीं लेते; पर महासर्गमें पुनः जन्म ले लेते हैं—ऐसा लोगोंने सिद्धान्त बना लिया है। इसका कारण क्या है? कि उन्होंने ऐसा मान रखा है कि मुक्ति कृत्रिम है, हमारे करनेसे होती है, इसलिये सदा कैसे रह सकती है? परन्तु वास्तवमें मुक्ति स्वतःसिद्ध है, स्वाभाविक है, कृत्रिम नहीं है। करना अस्वाभाविक है। अस्वाभाविकताको मिटा दोगे तो स्वाभाविकता ज्यों-की-त्यों रह जायगी। इस विषयको गहरे उतरकर समझो।

आप थोड़ा विचार करो कि जिन रुपयोंको आपने अपना मान रखा है, उन्हीं रुपयोंकी चिन्ता आपको होती है। रुपये तो दुनियामें अनगिनतीके पड़े हैं, पर उनकी चिन्ता आपको नहीं होती। अतः चिन्ता होनेमें रुपया कारण नहीं है, अपनापन कारण है। जिन व्यक्तियोंको आपने अपना मान लिया है, उनको लाभ होता है तो आपको सुख होता है और उनको हानि होती है तो आपको दुःख होता है। परन्तु जिनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उनको लाभ हो या हानि, वे मर जायँ या रह जायँ, हमें कोई सुख-दुःख नहीं होता। जिनसे ममता कर रखी है, उनका ही बन्धन है। जिनमें ममता नहीं है, उनका बन्धन हमारेको नहीं है।

विचार करके आप देखें तो ममताका त्याग बहुत सुगम है। जिसको हमने 'मेरा है' मान रखा है, उसको 'मेरा नहीं है' माननेमें हम स्वतन्त्र हैं, पराधीन नहीं हैं। परन्तु उससे सुख लेना चाहते हैं, इसलिये पराधीन बन जाते हैं। संयोगजन्य सुखमें फँसोगे तो पराधीनतासे बच नहीं सकोगे। भगवान् साफ कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥ (गीता ५।२२)

सम्बन्धजन्य जो सुख हैं, वे दुःखोंके ही कारण हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता। जो उनमें रमण नहीं करता, उसका कल्याण हो जाता है।

संयोगजन्य सुखकी लोलुपता ही संसारमें बाँधनेवाली चीज है। मैंने पहले भी कहा था, आज भी कह दूँ। मैंने पढ़ाई की, सत्संग किया, व्याख्यान दिये, इतनेपर भी मेरा समाधान नहीं हुआ कि बात क्या है ? यह बन्धन कहाँ है ? फिर संतोंकी कृपासे यह बात मेरी समझमें आयी कि जो सम्बन्धजन्य सुखकी इच्छा है, यही मूल बन्धन है। सुखकी इच्छा समाधितक रहती है। यह सुखकी इच्छा ही बाँधनेवाली है। इस बातपर आप पूरा विश्वास करो।

श्रोता—मालूम पड़ता है कि यह सही बात है।

स्वामीजी—सही बात है—ऐसा मालूम पड़ता है तो फिर खटपट मिटती क्यों नहीं ? कहीं-न-कहीं दोष है। जिस बातसे खटपट मिटती है, उस बातका ज्यादा आदर करो। खटपट मचती है तो उसके मूलमें क्या है—उसकी निगाह करो। जहाँ कहीं मनमें खलबली मचे तो स्वयं विचार करो कि मूलमें कहाँ दोष हुआ ? क्या दोष हुआ ? तो कहीं-न-कहीं ममता की है, पक्षपात किया है, सुखभोगकी इच्छा की है, किसी लाभकी इच्छा की है, कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छा की है, नहीं तो खलबली हो ही नहीं सकती।

श्रोता—परमात्माके लिये व्याकुलता होती है तो उसमें कोई सांसारिक सुख आनेसे हम उस सुखकी तरफ चले जाते हैं, व्याकुलताकी तरफ नहीं आते; ऐसे समय क्या करें ?

स्वामीजी—व्याकुलतामें रहो, भोगमें मत जाओ। भोगको मत पकड़ो, भोगके कारणको अर्थात् रागको पकड़ो और उसको मिटाओ।

अपनी यह बात हुई है न, इससे बड़ा लाभ होता है। आपसे-आप सोचोगे तो यह बाधा नहीं मिटेगी, और आपसमें खुल करके बात करते ही इसको मिटानेमें आपको मदद मिलेगी। यह मैंने देखा है। मेरेको कोई समझा देता है तो वह काम मेरे लिये बहुत सुगम होता है। स्वयं मैं सोचता हूँ, समझता हूँ, तो भी फरक पड़ता है। परन्तु दूसरेके समझानेसे बहुत जल्दी फर्क पड़ता है। मेरी प्रकृति ऐसी है तो मैं समझता हूँ कि दूसरोंकी प्रकृति भी ऐसी होगी। मेरी जो यह समझानेकी प्रवृत्ति होती है, इसको मैं बढ़िया नहीं मानता हूँ। दूसरोंको उपदेश देना, दूसरोंको समझाना अपनी मूर्खताको स्वीकार करना है, अपने अभिमानको स्वीकार करना है, दूसरोंको बेसमझ मानना है। दूसरोंको बेसमझ मानना और अपनेको समझदार मानना गुण नहीं है, दोष है, पतनकी चीज है। ऐसा मानते हुए भी मेरी समझानेकी प्रवृत्ति होती है। क्यों होती है ? इसमें कई कारण हो सकते हैं। विचारपूर्वक देखता हूँ तो मेरेको कोई समझाये तो मुझे लाभ होता है; अतः दूसरोंको कोई समझाये तो उनको भी लाभ होता होगा, इसलिये मेरी समझानेकी प्रवृत्ति होती है। आपसमें बात होनेसे विषय बहुत साफ हो जाता है और वैसा अनुष्ठान करनेमें बड़ी मदद मिलती है। अतः आपसमें विचार-विनिमय हो, विचारोंका आदान-प्रदान हो। केवल उपदेश देकर गुरु बन जानेसे लाभ नहीं होता। आपसमें दोनों समान समझकर विचार करें। किसी विषयमें मैं जानता हूँ और किसी विषयमें आप जानते हैं, तो टोटलमें बराबर ही हुए न ? ऐसे बराबर हो करके विचार करें। आपका कहना मैं मानूँ और मेरा कहना आप मानो। इससे अपने दोनोंको ही लाभ होगा। परन्तु यह कब होगा ? जब कहनेवाला अपनेमें अभिमान न करे कि मैं तो जानकार हूँ और ये अनजान हैं। हमें भी ज़ानकारी

करनी है और आपको भी जानकारी करनी है—ऐसा समझकर विचार करें तो हमारी जानकारी बढ़ेगी और ज्ञान होगा।

श्रोता—पुराना लिया हुआ सुख बराबर याद आता रहता है !

स्वामीजी—तो फिर सुखभोगका नतीजा अच्छा नहीं निकला है न ? अभीतक उस पुराने सुखभोगके संस्कार पड़े हुए हैं। अभीतक उन संस्कारोंसे हमारा छुटकारा नहीं हुआ है। अतः अब इस सुखभोगकी आसक्तिको छोड़ना चाहिये—यह सिद्ध होता है।

सुखकी लोलुपता कैसे छूटे ? यह प्रश्न है। सुखकी लोलुपतामें आकर हम फँस जाते हैं। जानते हुए, कहते हुए, समझते हुए, पढ़ते हुए भी उसमें फँस जाते हैं। अतः उससे छूटनेके लिये बड़ा सीधा सरल उपाय है कि दूसरेको सुख कैसे पहुँचे ? यह भाव बना लें। घरमें माँ-बापको सुख कैसे हो ? स्त्रीको सुख कैसे हो ? बच्चोंको सुख कैसे हो ? भाई-भौजाईको सुख कैसे हो ? पड़ोसियोंको सुख कैसे हो ? दुनियाको सुख कैसे हो ? मित्रोंको सुख कैसे हो ? मेरे द्वारा क्या सेवा की जाय, जिससे इनको सुख हो जाय, इनका हित हो जाय, इनका कल्याण हो जाय ? इनकी बात कैसे रहे ? इनका आदर कैसे रहे ? इनकी प्रशंसा कैसे हो ?—यह वृत्ति अगर आपकी जोरदार हो जायगी, तो सुखभोगकी रुचि मिट जायगी।

'बहुत प्रीति पुजाइबे पर, पूजिबे पर थोरि।'

(विनयपत्रिका १५८)

पुजानेकी तो ज्यादा प्रीति है और पूजनेकी थोड़ी है। सुख लेनेकी तो ज्यादा इच्छा है और सुख देनेकी थोड़ी है। अगर देनेकी ही इच्छा हो जाय तो काम ठीक हो जायगा।

श्रोता—सुख लेनेमें तो तत्काल सुख मिलता है, पर सुख

देनेमें तत्काल सुख मिलता नहीं।

स्वामीजी—पढ़ाई करते समय बालकको पढ़ाईमें सुख नहीं दीखता, खेलमें सुख दीखता है। परन्तु गुरुजनोंके पढ़ानेसे पढ़ना शुरू कर देता है और कुछ परीक्षाएँ पास कर लेता है तो पढ़ाईमें लगन लग जाती है। अतः पहले यह सूखी शिलाकी तरह है। सूखी शिलामें न नमक है, न चीनी है, कोई स्वाद नहीं, तो सूखी शिला कैसे चाटी जाय? परन्तु कोई कह दे कि चाटो, ठीक हो जायगा तो उसके कहनेसे चाटने लग जाओ। ऐसे ही ये कहते हैं, इसलिये इस सुखको छोड़ दो और दूसरोंको सुख दो। इतना विश्वास तो है कि ये हमारे हितके लिये कहते हैं। भगवान्‌के वचन हमारे कल्याणके लिये हैं, इसलिये उनके कहनेसे शुरू कर दो। भगवान्‌ने कहा कि सात्त्विक सुख आरम्भमें जहरकी तरह है और परिणाममें अमृतकी तरह है—**'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'** (गीता १८।३७)। आरम्भमें जहरकी तरह है—यह बात पहले मेरी समझमें नहीं आयी। सात्त्विकतामें तो आरम्भमें ही आनन्द है, सुख है और भगवान् आरम्भमें जहरकी तरह कहते हैं—यह कैसे? विचार करनेपर समझमें आया कि राजस-तामस सुखका त्याग करनेमें कठिनता आती है, इसलिये सात्त्विक सुख पहले जहरकी तरह दीखता है।

आप इस बातपर विचार करो कि दूसरोंको सुख कैसे हो। दूसरेकी बात कैसे रहे? दूसरेका कल्याण कैसे हो? भगवान् कहते हैं कि जिनकी प्राणिमात्रके हितमें प्रीति होती है, वे मेरेको प्राप्त होते हैं—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'** (गीता १२।४)। जो हमें दुःख देते हैं, उनको भी सुख कैसे हो?—***'उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'*** (मानस ५।४१।४)। फिर सन्तपना आ जायगा।

दूसरोंका हित करनेमें ही हमारा हित है। जैसे, हम दर्पणमें अपना मुख देखते हैं तो अगर हमारा मुख पूर्वकी तरफ होगा तो दर्पणमें हमारा मुख पश्चिमकी तरफ होगा। हमारा दायाँ उसमें बायाँ और हमारा बायाँ उसमें दायाँ दीखेगा। अब दर्पणमें जैसा दीखता है, उसके अनुसार हम चलेंगे तो उलटे चले जायँगे! संसाररूपी दर्पणमें सुख लेना अच्छा दीखता है और सुख देना बुरा दीखता है। अब उसीके अनुसार चलेंगे तो दशा बुरी होगी; क्योंकि ज्ञान आरम्भमें ही उलटा हो गया! ***'धुर बिगड़े सुधरे नहीं, कोटिक करो उपाय।'*** आरम्भमें ही काम बिगड़ गया! दीखता ऐसा है कि हमारा स्वार्थ सिद्ध हो जायगा, हमें सुख मिल जायगा, पर परिणाममें दुःख ही मिलेगा। इसलिये अगर अपना कल्याण चाहते हो तो इस चालको बदलना होगा, नहीं तो आफत-ही-आफत आयेगी। दूसरेको सुख देनेसे अपने सुख-भोगकी इच्छा मिटती है—यह बात एकदम सबके अनुभवकी है।

श्रोता—सेवा करनेसे तत्काल सुख तो नहीं मिलता, पर तत्काल अभिमान जरूर आता है!

स्वामीजी—अभिमानमें भी तो एक सुख मिलता है कि मैं ऐसा हूँ! हमें इस अभिमानके सुखको भी छोड़ना है—ऐसा विचार करो तो वह छूट जायगा। जैसे अपनी लड़कीका ब्याह करना है—यह विचार रहनेसे अपने लड़केमें जितनी ममता होती है, उतनी अपनी लड़कीमें ममता नहीं होती। इसी तरह अभिमानके सुखको छोड़ना है—यह पक्का विचार हो जायगा तो अभिमानजन्य सुखमें ममता नहीं रहेगी।

═══ ★ ═══

बन्धन कैसे छूटे ?

लोगोंने यह मान रखा है कि बन्धन नित्य है, उससे छूटनेपर मुक्ति होगी। मूलमें यही भूल हुई है। वास्तवमें बन्धन है ही नहीं। अगर बन्धन होता तो मुक्ति किसीकी भी नहीं होती; क्योंकि सत् वस्तुका अभाव नहीं होता— **'नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २।१६)। बन्धन सत् होता तो फिर उसका अभाव होता ही नहीं। अतः बन्धन है नहीं, केवल दीखता है। दीखता तो दर्पणमें मुख भी है, पर वहाँ मुख होता है क्या ? दर्पणमें मुख दीखता है तो उसको सामनेसे पकड़ लो, नहीं तो दर्पणके पीछेसे पकड़ लो ! है ही नहीं तो उसको पकड़ें क्या ! ऐसे ही इन सांसारिक पदार्थोंमें अपनापन दीखता है। यह शरीर, कुटुम्बी, धन-सम्पत्ति, वैभव आदि मेरा है—ऐसा दीखता है। परन्तु आजसे सौ वर्ष पहले ये आपके थे क्या ? और सौ वर्षके बाद ये आपके रहेंगे क्या ? यह मेरापन पहले भी नहीं था और पीछे भी नहीं रहेगा तथा बीचमें भी दिन-प्रतिदिन मिट रहा है, तो यह सच्चा कैसे हुआ ? दर्पणमें पहले भी मुख नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और इस समय भी दीखता तो है, पर है नहीं। जो प्रतिक्षण 'नहीं' में जा रहा है, वह 'है' कैसे हुआ ? जो नहीं है, उसको 'है' मान लिया। 'नहीं' को 'है' मानना छोड़ो तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। मेरापन पहले नहीं था तो मुक्ति थी, बादमें नहीं रहेगा तो मुक्ति रहेगी और बीचमें प्रतिक्षण छूट रहा है तो मुक्ति हो रही है। अतः बन्धन कृत्रिम है, केवल माना हुआ है और मुक्ति स्वतःसिद्ध है। अब इसमें देरी क्या लगे ? बताओ।

अगर आपने मान लिया कि बन्धन छूटेगा नहीं, तो अब वह छूटेगा ही नहीं ! क्योंकि आप परमात्माके अंश हैं। आप बन्धनको पक्का मान लोगे तो वह कैसे छूटेगा ? बन्धन तो अभी है और मुक्ति आगे होगी—इस तरह आपने बन्धनको नजदीक और मुक्तिको दूर मान लिया, तो अब बन्धन जल्दी कैसे छूट जायगा ? वास्तवमें तो बन्धन पहले भी नहीं था, पीछे भी नहीं रहेगा और अब भी नहीं है; तथा मुक्ति पहले भी थी, पीछे भी रहेगी और अब भी है।

देखो, हरेक व्यक्तिका माँमें बड़ा स्नेह होता है। वह स्नेह आज वैसा है क्या ? नहीं है। यह संसारके स्नेहका नमूना है। आप व्यापार करते हो तो पहले सब माल न देखकर उसका नमूना देखते हो। उस नमूनेसे सब मालका पता लग जाता है। स्त्री मेरी है, पुत्र मेरा है, धन मेरा है, घर मेरा है—ये सब अब प्रिय लगते हैं तो बालकपनमें माँ कम प्रिय लगती थी क्या ? माँके बिना रह नहीं सकते थे, रोने लगते थे, और माँकी गोदीमें जानेपर राजी हो जाते कि माँ मिल गयी ! पर माँके साथ आज वैसा स्नेह है क्या ? ऐसे कई भाग्यशाली हैं, जिनकी माँ अभी है; परन्तु माँके प्रति पहले जो खिंचाव था, वह खिंचाव अब नहीं है। इस नमूनेसे संसारभरकी परीक्षा हो जाती है कि अभी संसारमें जो खिंचाव है, यह भी रहनेवाला नहीं है।

श्रोता—महाराजजी ! हमारा स्नेह पहले माता-पितामें, फिर स्त्रीमें, फिर पुत्रमें, फिर पौत्रमें—इस प्रकार इधर-ही-इधर हो रहा है !

स्वामीजी—तो नया स्नेह मत करो बाबा ! पुराना स्नेह तो छूट रहा है, मुक्ति तो हो रही है।

श्रोता—हम तो नहीं करना चाहते।

स्वामीजी—आप नहीं करना चाहते तो मैं कराता हूँ क्या ! जबर्दस्ती कौन कराता है ? बताओ। पुराना स्नेह तो छूट जायगा, आप नया स्नेह मत करो। अब आप बालक हो क्या ? तो बालकपनसे मुक्ति हो गयी न ? मुक्ति तो आपसे-आप हो रही है; क्योंकि मुक्ति है। बन्धन बेचारा है ही नहीं। बन्धनको तो आपने पकड़ा हुआ है। आप रखोगे तो रहेगा, आप छोड़ोगे तो छूट जायगा। आप बन्धनको नहीं छोड़ोगे तो वह नहीं छूटेगा। बन्धनको छोड़नेका सुगम उपाय यह है कि जो अपने दीखते हैं, उनकी सेवा कर दो और उनसे सेवा मत चाहो। दो बातें मैंने बतायी थीं कि उनकी माँग न्याययुक्त, धर्मयुक्त है और आपकी उसको पूरा करनेकी शक्ति, सामर्थ्य है, आपके पास वस्तु है, तो उनकी माँग पूरी कर दो। अपनी न्याययुक्त इच्छा भी मत रखो; जैसे—बेटा हमारी सेवा करे—यह न्याययुक्त होनेपर भी इसकी इच्छाको मत रखो। इस तरह खुद तो सेवा चाहो नहीं और दूसरोंकी सेवा करते रहो, तो मुक्ति हो जायगी। सेवा चाहते रहोगे तो मुक्ति नहीं होगी और दूसरा सेवा करेगा भी नहीं।

सेवा चाहनेसे दूसरा सेवा नहीं करेगा, और सेवा नहीं चाहोगे तो वह सेवा करेगा—आपकी सेवामें भी घाटा नहीं पड़ेगा। आपके पास रुपये हैं, रोटी है, कपड़ा है, तो आप किस साधुको देना चाहते हैं ? जो लेना नहीं चाहता, उसको दोगे या जो लेना चाहता है, उसको दोगे ? जो चोरी करता है, डाका डालता है, छीनता है, उसको आप देना चाहते हो क्या ? आप उसीको देना चाहते हैं, जो लेना नहीं चाहता। संसारसे कुछ नहीं चाहोगे तो संसार ज्यादा सुख देगा। आपको सुख कम नहीं पड़ेगा, घाटा नहीं लगेगा। जो कुछ नहीं चाहता, उसको सब देना चाहते हैं, तो फिर उसके सुखमें घाटा कैसे पड़ेगा। घाटा तो सुख चाहनेसे पड़ता है।

मान-बड़ाई भी उसको देते हैं जो इसको नहीं चाहता। फिर चाहना करके दरिद्री क्यों बनें ?

श्रोता—अनादिकालसे पड़े हुए ममताके संस्कार मिटें कैसे ?

स्वामीजी—अनादिकालका अँधेरा दियासलाई जलाते ही भाग जाता है। किसी गुफामें लाखों वर्षोंसे अँधेरा हो और वहाँ जाकर प्रकाश करें तो वह यह नहीं कहेगा कि मैं यहाँ इतने वर्षोंसे हूँ, इसलिये मैं जल्दी नहीं जाऊँगा। जब प्रकाश हुआ तो वह मिट गया। ऐसे ही जो भूल है, गलती है, वह मिटनेवाली होती है।

ममताको मिटानेका उपाय है—देनेकी इच्छा रखो। लेनेकी आशा रखो ही मत कि हमें कुछ मिले। वस्तु अपने पासमें है और दूसरा चाहता है, तो बिना किसी शर्तके उसको दे दो। देते रहोगे तो स्वभाव ही देनेका पड़ जायगा। लेनेका स्वभाव होनेसे ही नयी-नयी ममता पैदा होती है। इसलिये भीतरसे ही लेनेकी इच्छा छोड़ दो।

संसारकी सेवा-ही-सेवा करनी है, लेना कुछ नहीं है—यह 'कर्मयोग' हो गया। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध है ही नहीं—यह 'ज्ञानयोग' हो गया। भगवान् ही मेरे हैं, और कोई मेरा नहीं है—यह 'भक्तियोग' हो गया। मेरा सम्बन्ध संसारके साथ है, संसार मेरा है और मेरे लिये है—यह 'जन्म-मरणयोग' या 'बन्धनयोग' हो गया ! बार-बार जन्मो और मरो ! अब जिसमें आपको फायदा लगे, उसको कर लो। परमात्माके साथ तो आपका सम्बन्ध स्वतः है, और संसारके साथ सम्बन्ध आपका माना हुआ है। संसारसे कितना ही सम्बन्ध जोड़ लो, वह टिकता ही नहीं। जो टिके नहीं, उसको पहले ही छोड़ दो।

भलि सोचहि सज्जन जना, दिवी जगतको पूठ।
पीछे देखी बिगड़ती, पहले बैठा रूठ ॥

जो पीछे बिगड़ जायगा, उसको पहले ही छोड़ दिया। अगर कोई अपने कुटुम्बको सच्चे हृदयसे छोड़कर साधु बन जाय, तो सब-का-सब कुटुम्ब एक साथ मर जाय अथवा कुटुम्बमें बीसों-पचासों आदमी हो जायँ, उसपर कोई फरक नहीं पड़ेगा। परन्तु कुटुम्बमें एक लड़का मर जाय और वह रोने लगे, तो उस साधुने कोरा कपड़ा ही मिट्टी लगाकर खराब किया! जैसे साधु अपने कुटुम्बकी तरफसे मर जाता है, ऐसे ही आप भी सबसे मर जाओ, तो मुक्ति हो जायगी। मरते ही अमर हो जाओगे। जहाँ संसारसे मरे कि अमर हुए! जीते हुए ही मर जाओ। संतोंके पदमें आया है—***'अरे मन जीवतड़ो ही मर रे।'*** आजसे ही मर जाओ। सब काम ठीक हो जायगा। घरवालोंसे मर जाओ तो उनकी भी आफत मिट जायगी। न तीजा करना पड़े, न द्वादशाह करना पड़े, न नारायण-बलि करनी पड़े, न कोई खर्चा करना पड़े, सब आफत मिट जाय! घरवाले भी मौजमें और आप भी मौजमें!

भगवान्‌की, सन्तोंकी, शास्त्रोंकी कृपा तो आपपर सदासे ही है, अब आप कृपा करो तो निहाल हो जाओ। आप स्वयं कृपा नहीं करोगे तो उनकी कृपा पड़ी रहेगी, कुछ काम नहीं करेगी। जिनको पकड़ा है, उनको छोड़ दो तो मुक्ति हो जायगी। अब घरवालोंको छोड़ दिया तो गुरुजीको पकड़ लिया कि ये मेरे गुरुजी हैं, ये गुरुभाई हैं, ये चाचा गुरु हैं, यह भतीजा चेला है। एकको छोड़ दिया और दूसरेको पकड़ लिया तो मुक्ति नहीं होगी, ज्यों-के-त्यों फँसे रहोगे। एक साधु मिले थे। वे कहते थे कि गुरुजीने हमें विद्या सिखा दी कि तुम कुटुम्बको छोड़ दो, तो हमने गुरुजीको भी छोड़ दिया! अब न गुरु है, न चेला है, न चाचा गुरु है, न भतीजा चेला है। पहले गृहस्थसे साधु हुए, अब साधुसे भी साधु हो गये।

कुटुम्बको हमारा मानो मत और उनसे कुछ चाहो मत—इतना ही कुटुम्बके साथ सम्बन्ध रखो। अपने पास जो पैसा है, सामर्थ्य है, समय है, वह उनकी सेवामें लगा दो। इससे सब कुटुम्बी राजी हो जायँगे और आपकी मुक्ति हो जायगी। पहलेका सम्बन्ध सेवा करके छोड़ दें और नया सम्बन्ध जोड़ें नहीं, तो मुक्ति ही रहेगी। मुक्तिके सिवा और क्या रहेगा ?

सबमें परमात्माका दर्शन

स्नान करते समय जब आप साबुन लगाकर रगड़ते हो, उस समय आपका स्वरूप कैसा दीखता है ? बुरा दीखता है। बुरा दीखनेपर भी मनमें ऐसा नहीं रहता कि मेरा स्वरूप बुरा है। मनमें यह रहता है कि यह रूप साबुनके कारण ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, वास्तवमें ऐसा है नहीं। ऐसे ही कोई दुष्ट-से-दुष्ट व्यक्ति दीखे तो मनमें यह आना चाहिये कि यह ऊपर-ऊपरसे ऐसा दीखता है, भीतरसे तो यह परमात्माका अंश है। काले कपड़े पहननेसे क्या मनुष्य काला हो जाता है ? जैसा उसका स्वरूप है, वैसा ही रहता है। ऐसे ही दुष्टता और सज्जनता अन्तःकरणमें रहती है। परमात्माका जो अंश है, उसमें फरक नहीं पड़ता। एक जीवन्मुक्त है, भगवत्प्रेमी है, सिद्ध महापुरुष है और एक दुष्ट है, कसाई है, जीवोंकी हत्या करता है, चोरी करता है, डाका डालता है, तो उन दोनोंमें परमात्मतत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें कोई फरक नहीं है। जो परमात्मतत्त्वको चाहता है, वह उस तत्त्वकी तरफ देखता है। व्यवहारमें यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी साधककी दृष्टि उस तत्त्वकी तरफ ही रहनी चाहिये। उस तत्त्वकी तरफ दृष्टि रखनेवालेका नाम ही 'समदर्शी' है। व्यवहारमें समता लानेवाले, सबके साथ खाना-पीना, ब्याह आदि करनेवाले 'समवर्ती' हैं, समदर्शी नहीं। 'समवर्ती' नाम यमराजका है—'**समवर्ती परेतराट्!**' (अमरकोष १।१।५८); क्योंकि मौत सबकी समान होती है। अतः ज्ञानीका नाम है—समदर्शी, और यमराजका नाम है····· समवर्ती। ज्ञानी समदर्शी क्यों है ? कि वह सबमें समरूप

परमात्माको देखता है। दुष्ट आदमीको देखकर अगर दुष्टताका भाव पैदा होता है, तो वह समदर्शी नहीं है, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु नहीं है; कम-से-कम उस समय तो नहीं है।

एक स्थूल दृष्टान्त आता है। एक वैरागी बाबा थे। उनके पास सोनेकी बनी हुई एक गणेशजीकी और एक चूहेकी मूर्ति थी। बाबाजीको तीर्थोंमें जाना था। वे दोनों मूर्तियोंको सुनारके पास ले गये और कहा कि इनको ले लो और इनकी कीमत दे दो, जिससे तीर्थ घूम आयें। दोनों मूर्तियोंका वजन बराबर था, इसलिये सुनारने दोनोंकी बराबर कीमत कर दी। बाबाजी चिढ़ गये कि जितनी कीमत गणेशजीकी, उतनी ही कीमत चूहेकी—ऐसा कैसे हो सकता है ! चूहा तो सवारी है और गणेशजी उसपर सवार होनेवाले हैं, उसके मालिक हैं। सुनार बोला कि बाबाजी ! हम गणेशजी और चूहेकी कीमत नहीं करते, हम तो सोनेकी कीमत करते हैं। सुनार मूर्तियोंको नहीं देखता, वह तो सोनेको देखता है। ऐसे ही परमात्मतत्त्वको चाहनेवाला साधक प्राणियोंको न देखकर उनमें रहनेवाले परमात्मतत्त्वको देखता है।

परमात्मा सबके भीतर हैं—यह बहुत ऊँचे दर्जेकी चीज है। उतना न समझ सको तो इतना समझ लो कि 'सब परमात्माके हैं।' यह सुगमतासे समझमें आ जायगा कि ये जितने प्राणी हैं, सब परमात्माके हैं। परमात्माके हैं तो ऐसे क्यों हो गये ? कि ज्यादा लाड़-प्यार करनेसे बालक बिगड़ जाता है। ये परमात्माके लाड़ले बालक हैं, इसलिये बिगड़ गये। बिगड़नेपर भी हैं तो परमात्माके ही ! अतः उनको परमात्माके समझकर ही उनके साथ यथायोग्य बर्ताव करना है। जैसे हमारा कोई प्यारा-से-प्यारा भाई हो और उसको प्लेग हो जाय, तो प्लेगसे परहेज रखते हैं और भाईकी सेवा करते हैं। जिसकी सेवा करते हैं, वह तो प्रिय है, पर रोग अप्रिय है।

इसलिये खान-पानमें परहेज रखते हैं। ऐसे ही किसीका स्वभाव बिगड़ जाय तो यह बीमारी आयी है, विकृति आयी है। उसके साथ व्यवहार करनेमें जो फरक दीखता है, वह केवल ऊपर-ऊपरका है। भीतरमें तो उसके प्रति हितैषिता होनी चाहिये।

भगवान् सबके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५।२९)। ऐसे ही सन्तोंके लिये आया है कि वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् होते हैं—'**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**' (श्रीमद्भा० ३।२५।२१)। सुहृद् होनेका मतलब क्या? कि दूसरा क्या करता है, कैसे करता है, हमारा कहना मानता है कि नहीं मानता, हमारे अनुकूल है कि प्रतिकूल—इन बातोंको न देखकर यह भाव रखना कि अपनी तरफसे उसका हित कैसे हो? उसकी सेवा कैसे हो? हाँ, सेवा करनेके प्रकार अलग-अलग होते हैं। जैसे, कोई चोर है, डाकू है, उनकी मारपीट करना भी सेवा है। तात्पर्य है कि उनका सुधार हो जाय, उनका हित हो जाय, उनका उद्धार हो जाय। बच्चा जब कहना नहीं मानता तो क्या आप उसको थप्पड़ नहीं लगाते? उस समय क्या आपका उससे वैर होता है? वास्तवमें आपका अधिक स्नेह होता है, तभी आप उसको थप्पड़ लगाते हैं। भगवान् भी ऐसा ही करते हैं। जैसे, बच्चे खेल रहे हैं और किसी माईका चित्त प्रसन्न हो जाय तो वह स्नेहवश सब बच्चोंको एक-एक लड्डू दे देती है। परन्तु वे उद्दण्डता करते हैं तो वह सबको थप्पड़ नहीं लगाती, केवल अपने बालकको ही लगाती है। ऐसे ही भगवान्का विधान हमारे प्रतिकूल हो तो वह उनके अधिक स्नेहका, अपनेपनका द्योतक है।

दूसरेके साथ स्नेह रखते हुए बर्ताव तो यथायोग्य, अपने अधिकारके अनुसार करना चाहिये, पर दोष नहीं देखना चाहिये। किसीके दोष देखनेका हमारा अधिकार नहीं है। जैसे, नाटकमें

एक मेघनाद बन गया और एक लक्ष्मण बन गया। दोनों एक ही कम्पनीके हैं। पर नाटकके समय कहते हैं—अरे, तेरेको मार दूँगा। आ जा मेरे सामने खत्म कर दूँगा। वे शस्त्र-अस्त्र भी चलाते हैं। परन्तु भीतरसे उनमें वैर है क्या ? नाटकके बाद वे एक साथ रहते हैं, खाते-पीते हैं; क्यों ? उनके हृदयमें वैर है ही नहीं।

सन्तोंके लिये कहा गया है—

संतों की गति रामदास, जग से लखी न जाय।
बाहर तो संसार-सा, भीतर उल्टा थाय॥

बाहरसे वे संसारका बर्ताव करते हैं, पर भीतरसे परमात्मतत्त्वको देखते हैं। भीतरसे उनका किसीके साथ द्वेष नहीं होता और सबके साथ मैत्री तथा करुणाका भाव होता है—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'** (गीता १२। १३)। हृदयसे वे सबका हित चाहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि हमारी दृष्टि सम कैसे हो ? एक तो आपमें यह बात दृढ़तासे रहे कि 'मैं तो साधक हूँ, परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु हूँ' और एक यह बात दृढ़ रहे कि 'सबमें परमात्मा हैं।' सबमें परमात्माको कैसे देखें ? इस बातको थोड़ा ध्यानसे सुनें। 'मनुष्य है'—इसमें जो 'है'—पना है, सत्ता है, वह कभी मिटती नहीं। वह बुरा हो या भला हो, दुराचारी हो या सदाचारी हो, उसमें जो 'है'—पना है, वह मिटेगा क्या ? बढ़िया-से-बढ़िया चीजोंमें भी वह 'है'—पना है और कूड़ा-करकट आदिमें भी वह 'है'—पना है। उन चीजोंका रूप बदल जाता है, पर 'है'—पना (सत्ता) नहीं बदलता। कूड़ा-करकटको जला दो तो वह राख बन जायगा, उसका रूप दूसरा हो जायगा। पर उसकी सत्ता दूसरी नहीं हो जायगी। वह सत्ता परमात्माकी है। उस सत्ताकी तरफ दृष्टि रखो। जो परिवर्तन होता है, वह प्रकृतिमें होता है। आपको

संक्षेपसे प्रकृतिका स्वरूप बतायें तो एक वस्तु और एक क्रिया—ये दो प्रकृति हैं। वस्तु भी बदलती रहती है और क्रिया भी बदलती रहती है। यह बदलना प्रकृतिका है। आप प्रकृतिके जिज्ञासु नहीं हैं, परमात्माके जिज्ञासु हैं। अतः बदलनेवालेको न देखकर रहनेवाले 'है'—पनको देखो। संसार है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है; यह जीवित है, यह मुर्दा है—इसमें तो फरक है, पर 'है' में क्या फरक पड़ा ? नफा हो गया, नुकसान हो गया; पोतेका जन्म हुआ, बेटा मर गया, तो नफा-नुकसानमें, जन्मने-मरनेमें फरक है, पर दोनोंके ज्ञानमें क्या फरक पड़ा ? न उस वस्तुकी सत्तामें फरक पड़ा और न आपके ज्ञानमें फरक पड़ा।

व्यवहार तो स्वाँगके अनुसार ही होगा। हम साधु हैं तो साधुकी तरह स्वाँग करेंगे। गृहस्थ हैं तो गृहस्थकी तरह स्वाँग करेंगे। सामने जो व्यक्ति है, परिस्थिति है, उसको लेकर बर्ताव करना है। परन्तु भीतरसे, सिद्धान्तसे यह रहे कि सबमें एक परमात्मतत्त्वकी सत्ता है। सत्यरूपसे, ज्ञानरूपसे और आनन्दरूपसे सबमें परमात्मा ही परिपूर्ण है।

एक काल्पनिक सत्ता होती है और एक वास्तविक सत्ता होती है। पैदा होनेके बाद होनेवाली सत्ता काल्पनिक है और पैदा न होनेवाली अर्थात् नित्य रहनेवाली सत्ता वास्तविक है। जैसे, बालक पैदा हुआ, तो पैदा होनेके बाद 'बालक है' ऐसा दीखता है। पैदा होनेसे पहले वह बालक नहीं था। बालक होनेके बाद फिर वह जवान हो जाता है। इस प्रकार यह बदलनेवाली काल्पनिक सत्ता प्रकृतिकी है। मूलमें परमात्मतत्त्वकी वास्तविक सत्ता है, जो कभी बदलनेवाली नहीं है। परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु उस न बदलनेवाली सत्ताको देखता है और संसारी आदमी बदलनेवाली सत्ताको देखता है, एककी दृष्टि पारमार्थिक है और एककी दृष्टि सांसारिक है। जैसे

स्थूल दृष्टिसे माँ, बहन और स्त्री एक समान ही दीखती है, पर भाव-दृष्टिसे देखें तो माँ, बहन और स्त्री—तीनों अलग-अलग दीखती हैं। बाहरकी स्थूल दृष्टि तो पशुकी दृष्टि है, मनुष्यकी दृष्टि नहीं। साधककी दृष्टि तत्त्वपर रहती है, इसलिये वह सब जगह एक परमात्माको ही देखता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो सबमें मेरेको देखता है और सबको मेरेमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।'

एक बच्चेने माँसे कहा कि 'माँ! मेरेको गुड़ चाहिये।' माँने कहा कि ग्वार ले जा और बदलेमें बनियेके यहाँसे गुड़ ले आ। बच्चा घरसे ग्वार ले गया और बनियेसे बोला कि मुझे गुड़ चाहिये। बनियेने तौलकर ग्वार ले लिया और गुड़ तौलकर दे दिया। बच्चा सोचने लगा कि बनिया कितना मूर्ख है! ग्वार-जैसी चीज पशुओंके खानेकी है, मनुष्यके कामकी नहीं है, उसके बदलेमें यह मेरेको गुड़ देता है। इस तरह ग्वार और गुड़पर दृष्टि रहनेके कारण बच्चेको बनिया मूर्ख दीखता है। परन्तु बनियेकी दृष्टि पैसोंपर है कि ग्वार कितने पैसोंका है और गुड़ कितने पैसोंका है। बनिया दो तरहसे पैसे कमाता है—माल लेता है तो सस्ता लेता है, और बेचता है तो मँहगा बेचता है। अतः उसने ग्वारमें नफा अलग लिया और गुड़में नफा अलग लिया। बनियेको ग्वार और गुड़से क्या मतलब? उसको तो पैसा पैदा करना है। ऐसे ही साधककी दृष्टि परमात्मतत्त्वपर होती है। सबमें जो परमात्मा है, उसीको प्राप्त करना है, संसारसे क्या मतलब?

साधकको व्यवहार तो यथायोग्य करना है, पर महत्त्व

परमात्मतत्त्वको ही देना है, व्यवहारको नहीं। व्यवहारमें किसीने आदर कर दिया तो क्या हो गया ? किसीने निरादर कर दिया तो क्या हो गया ? आदर करनेवाला तो हमारा पुण्य क्षीण करता है और निरादर करनेवाला हमारा पाप नष्ट करता है। हमारा लाभ किसमें है—पाप रखनेमें कि नष्ट करनेमें ? जो हमें दुःख देता है, अपमान करता है, निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह हमारे पापोंका नाश करता है। जो हमारा आदर-सत्कार करता है, वाह-वाह करता है, वह हमारे पुण्योंका नाश करता है। हम पापोंका नाश करनेका उद्योग करते हैं, पर निरादर करनेवाला हमारे पापोंका नाश स्वतः ही कर रहा है। यह उसकी कितनी कृपा है ! उसका हमारेपर कृपा करनेका आशय नहीं है, पर वह क्रिया तो हमारे लाभकी ही कर रहा है। वह हमारा हितैषी नहीं है, पर क्रिया तो हमारे हितकी ही कर रहा है। वह जो करता है, वह हमारे लिये ठीक ही होगा, बेठीक हो ही नहीं सकता।

एक मार्मिक बात है कि साधकके लिये कोई परिस्थिति अनिष्टकारी होती ही नहीं। संसारका जितना व्यवहार है, वह सब-का-सब साधन-सामग्री है। सुखदायी-दुःखदायी, अनुकूल-प्रतिकूल जो कुछ सामने आता है, वह सब साधन-सामग्री है। इसलिये साधकको सावधान रहना चाहिये। सावधानी ही साधन है। साधक वह होता है, जो हर समय सावधान रहता है।

दिलमें जाग्रत रहिये बन्दा।

हेत प्रीत हरिजन सुं करिये, परहरिये दुखद्वन्द्वा॥

जब अच्छा और मन्दा होता है, राग और द्वेष होता है तो हम जाग्रत् कहाँ रहे ! अतः मैं साधक हूँ और मेरे साध्य परमात्मा हैं—इसकी जागृति रखते हुए साध्यकी प्राप्तिके लिये यथायोग्य बर्ताव करना है।

═══ ★ ═══

सच्ची मनुष्यता

अपने सुखसे सुखी होना और अपने दुःखसे दुःखी होना—यह पशुता है; तथा दूसरेके सुखसे सुखी होना और दूसरेके दुःखसे दुःखी होना—यह मनुष्यता है। अतः जबतक दूसरेके सुखसे सुखी होने और दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह मनुष्य कहलानेके लायक नहीं है। वह आकृतिसे चाहे मनुष्य दीखे, पर वास्तवमें मनुष्य नहीं है। जबतक खुदके सुखसे सुखी होंगे और खुदके दुःखसे दुःखी होंगे, तबतक मनुष्यता नहीं आयेगी।

जो अपने सुखके लिये दूसरोंकी हानि करता है, वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है। मनुष्य वही होता है, जो अपने स्वार्थका त्याग करके दूसरेका हित करे, कम-से-कम दूसरेका नुकसान न करे। अतः यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि हमारे द्वारा किसीको किञ्चिन्मात्र भी दुःख न हो। दूसरोंका दुःख कैसे मिटे—इससे भी आगे दूसरोंके हितकी दृष्टि रखो कि दूसरोंका हित कैसे हो? प्राणिमात्रके हितमें रति हो—**'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता ५।१५;१२।४)। दूसरोंका हित कितना करना है, कितना नहीं करना है—इसकी आवश्यकता ही नहीं। हमारे पास जितनी सामर्थ्य है, जितनी योग्यता है, जितनी सामग्री है, उसीको दूसरोंके हितमें लगाना है, उतनी ही हमारी जिम्मेवारी है। सबको सुखी बना दे—यह किसी मनुष्यकी ताकत नहीं है। यह इतनी कठिन बात है कि दुनियाके सब-के-सब आदमी मिलकर अगर एक

आदमीको भी सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें, तो भी उसको सुखी नहीं कर सकते। कारण कि उसमें जो धनकी, भोगोंकी, मानकी, बड़ाईकी, आरामकी लालसा है, वह ज्यों-ज्यों धन, भोग आदि मिलेंगे, त्यों-ही-त्यों अधिक बढ़ती जायगी—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई।'* अधिक-से-अधिक धन आदि मिलनेपर भी वह तृप्त नहीं हो सकता। जब सम्पूर्ण दुनिया मिलकर भी एक आदमीको सुखी नहीं कर सकती, तो एक आदमी दुनियाके दुःखको दूर कैसे करेगा ? परन्तु 'दूसरेको सुख कैसे हो'—यह भाव सब बना सकते हैं, चाहे वह भाई हो या बहन हो, बालक हो या जवान हो, धनी हो या निर्धन हो। सांसारिक चीजोंमें किसीको अधिकार मिला है, किसीको नहीं मिला है; परन्तु हृदयसे सबका हित चाहनेका अधिकार सबको मिला है। इस अधिकारसे कोई भी वञ्चित नहीं है।

जो अपनी शक्तिके अनुसार दूसरोंका भला करता है, उसका भला भगवान् अपनी शक्तिके अनुसार करते हैं। वह अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, तो भगवान् भी अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। जब भगवान् अपनी शक्ति लगा देंगे, तो वह दुःखी कैसे रहेगा ? उसको कोई दुःखी कर ही नहीं सकता। वह भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥'** (गीता १२।४)।

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥'

सब सुखी हो जायँ, सबके आनन्द-मङ्गल हो, कभी किसीको किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न हो—यह जिसका भाव बन जाय, वही मनुष्य कहलानेलायक है। जबतक वह दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, तबतक वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है।

दूसरी एक और बात है—जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, उसको अपने दुःखसे दुःखी नहीं होना पड़ता। आपलोग ध्यान दें, अपने दुःखसे दुःखी उसीको होना पड़ता है, जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी नहीं होता और दूसरोंके सुखसे सुखी नहीं होता। वही संग्रही बनता है और अपने सुखका भोगी बनता है। उसको सुखका अभाव रहता है, कमी रहती है। परन्तु जो दूसरोंके सुखसे सुखी होता है, उसको सुखकी कमी रहती ही नहीं। कमी कैसे नहीं रहती? कि उसको अपने सुखभोगकी इच्छा ही नहीं रहती।

संग्रह करना और भोग भोगना—ये दोनों परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हैं। रुपये-पैसे मेरे पास आ जायँ, सामग्री मेरेको मिल जाय, भोग मैं भोग लूँ—यह जो भीतरकी लालसा है, यह परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होने देती। कारण कि संग्रह करेगा तो शरीरसे ही करेगा और सुख भोगेगा तो शरीरसे ही भोगेगा। अतः इस हाड़-माँसके पुतलेमें लिप्त रहनेसे, इसकी गुलामी रहनेसे चिन्मय तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु दूसरोंके सुखमें सुखी होनेसे भोग भोगनेकी इच्छा और दूसरोंके दुःखमें दुःखी होनेसे अपने लिये संग्रह करनेकी इच्छा नहीं रहती।

दूसरेके दुःखसे दुःखी होनेसे उसका दुःख दूर करनेका विचार होगा। जैसे अपना दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देते हैं, ऐसे ही दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये हम पैसे खर्च कर देंगे। हम ज्यादा संग्रह नहीं कर सकेंगे! अगर संग्रह ज्यादा हो भी जायगा, तो उसमें अपनापन नहीं रहेगा कि यह तो सबकी चीज है। इसीलिये भागवतमें आया है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

जितनेसे पेट भर जाय, उतनी ही चीज मनुष्यकी है। मतलब यह है कि जितनेसे भूख मिट जाय, उतना अन्न; जितनेसे प्यास मिट जाय, उतना जल; जितनेसे शरीरका निर्वाह हो जाय, उतना कपड़ा और मकान—यह अपना है। इसके सिवा अधिक अन्न है, जल है, वस्त्र है, मकान है, निर्वाहकी अधिक सामग्री है, उसको जो अपना मानता है—अपना अधिकार जमाता है, वह चोर है, उसको दण्ड मिलेगा। वह कहता है कि हम किसीसे लाये नहीं, यह तो हमारी है। पर वह हमारी कैसे ? क्योंकि जब जन्मे, तब एक धागा साथ लाये नहीं और जब मरेंगे, तब एक कौड़ी साथ जायगी नहीं। अतः हमारे पास जो अधिक सामग्री है, वह उसकी है, जिसके पास उस सामग्रीका अभाव है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी होता है, वह अपने सुखके लिये भोग और संग्रहकी इच्छा नहीं करता। उसमें करुणाका, दयाका भाव पैदा होता है। करुणामें जो रस है, आनन्द है, वह भोगोंमें नहीं है।

यह जो आप संग्रह करते हैं, इसका अर्थ है—निर्दयता, भीतरमें दया नहीं है। जहाँ दया होती है, वहाँ अपने सुखके लिये संग्रह नहीं होता। क्यों नहीं होता ? क्योंकि उसको ऐसे ही आनन्द आता है। संग्रहमें जो सुख होता है, उसमें राजसी और तामसीपना होता है। दूसरोंके सुखमें जो सुख होता है, वह सुख संग्रहमें और भोगोंमें परिणत नहीं होता। उस सुखमें बड़ा भारी आनन्द होता है।

जिसका दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव है, वह दूसरोंको दुःखी देखकर आप सुख भोग ले—यह हो ही नहीं सकता। पड़ोसमें रहनेवालोंको अन्न न मिले और हम बढ़िया-बढ़िया भोजन बनाकर खायें—यह अच्छे हृदयवालोंसे नहीं होता। उनको भोजन अच्छा ही नहीं लगेगा। परन्तु जिनका स्वभाव दूसरोंको दुःख देनेका है, वे दूसरोंके दुःखसे क्या दुःखी होंगे ?

वे तो दूसरोंका दुःख देखकर सुखी होते हैं। जो अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःखी बना देते हैं, अपने मानके लिये दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंका अपमान करते हैं, अपनी प्रशंसाके लिये दूसरोंकी निन्दा करते हैं, अपने पदके लिये दूसरोंको पदच्युत करते हैं, वे मनुष्य कहलानेलायक भी नहीं हैं, मनुष्य तो हैं ही नहीं। वे तो पशु हैं। पशु भी ऐसे निकम्मे कि न सींग है, न पूँछ है ! जिसके सींग और पूँछ न हों, वह भद्दा पशु होता है। उसका ढाँचा तो मनुष्यका है, पर स्वभाव पशुका है। पशु-पक्षी तो अपने पापोंका फल भोगकर शुद्ध होते हैं, पर दूसरोंको दुःख देनेवाले नये-नये पाप करके नरकोंका रास्ता तैयार करते हैं ! रामायणमें आया है—

बरु भल बास नरक कर ताता।
दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

(मानस ५।४६।४)

अपने सुखसे सुखी और अपने दुःखसे दुःखी होना दुष्टता है। नरकोंमें निवास बेशक हो जाय, पर ऐसे दुष्टोंका संग विधाता न दे। नरकोंमें जितना निवास होगा, जितना नरक भोगेंगे, उतने हमारे पाप कट जायँगे और हम शुद्ध हो जायँगे। परन्तु ऐसे दुष्टोंका संग करनेसे नये-नये नरक भोगने पड़ेंगे।

पशु दूसरोंको दुःख देनेपर भी पापके भागी नहीं बनते; क्योंकि पाप-पुण्यका विधान मनुष्यके लिये ही है। पशु-पक्षी दुःख देते हैं तो अपने खानेके लिये देते हैं। वे खा लेंगे तो फिर आपको तंग नहीं करेंगे। वे अपने सुखभोगके लिये, संग्रहके लिये आपको तंग नहीं करेंगे, कष्ट नहीं देंगे। परन्तु मनुष्य लाखों-करोड़ों रुपये कमा लेगा, तो भी दूसरोंको दुःख देगा और दुःख देकर अपना धन बढ़ाना चाहेगा, अपना सुख बढ़ाना

चाहेगा। अतः वह मनुष्य कहलानेलायक नहीं है। वह तो पशुओंसे और नरकोंके कीड़ोंसे भी नीचा है! मनुष्यजीवन मिला है शुद्ध होनेके लिये, निर्मल होनेके लिये। परन्तु जो दूसरोंको दुःख देते हैं, वे पाप कमाते हैं, जिसका नतीजा बहुत भयंकर होगा!

जिसके अन्तःकरणमें दूसरोंको सुखी देखकर प्रसन्नता पैदा नहीं होती और दूसरोंको दुःखी देखकर करुणा पैदा नहीं होती, उसका अन्तःकरण मैला होता है। मैला अन्तःकरण नरकोंमें ले जाता है। पशुका अन्तःकरण ऐसा मैला नहीं होता। पशु भोगयोनि है, कर्मयोनि नहीं है। वह अपने सुखके लिये दूसरोंको दुःख नहीं देता। वह किसी प्राणीको मारकर खा जाता है तो केवल आहार करता है, सुख नहीं भोगता। परन्तु मनुष्य शौकसे अच्छी-अच्छी चीजें बनाकर खाता है। उसमें स्वादका सुख लेता है तो वह पाप करता है। अतः दूसरोंके सुखसे सुखी होना और दूसरोंके दुःखसे दुःखी होना ही सच्ची मनुष्यता है। मनुष्यमात्रको अपने भीतर हरदम यह भाव रखना चाहिये कि सब सुखी कैसे हों? उनका दुःख कैसे मिटे?

——★——

शरणागतिकी विलक्षणता

पारमार्थिक बातें एक-एकसे विलक्षण हैं। उनमें शरणागतिकी बात बहुत विलक्षण है! शरणागतिमें दो बातें सिद्ध होती हैं— एक तो ईश्वरवाद सिद्ध होता है और एक आश्रय लेनेका स्वभाव सिद्ध होता है। ईश्वरवाद कैसे सिद्ध होता है? कि हरेक प्राणी किसी-न-किसीको अपनेसे बड़ा मानता है और उसका आश्रय लेता है। पशु-पक्षियोंमें भी यह बात देखी जाती है। हम जब बूंदीमें रहते थे, तब एक रात हम सब साधु सो रहे थे। रातमें वहाँ एक बघेरा (चीता) आया। वहाँ दो कुत्ते थे। बघेराको देखते ही वे कुत्ते डरते हुए चट हमारे पास आकर चिपक गये; क्योंकि बघेरा कुत्ते और गधेको खा जाता है। अतः भय लगनेपर पशु-पक्षी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। ऐसे ही मात्र जन्तु किसी-न-किसीका आश्रय लेते हैं। कोई बिल बनाकर रहता है, कोई घर बनाकर रहता है, कोई किसी तरहसे रहता है। जंगम प्राणी तो दूर रहे, स्थावर प्राणी भी अपनेसे बड़ेका आश्रय लेते हैं। जैसे कोई लता है, वह भी दीवार, वृक्ष आदिका सहारा लेकर ऊपर चढ़ती है। जीवमात्रमें आश्रय लेनेकी स्वाभाविक शक्ति है। कोई गुरुका आश्रय लेता है, कोई ग्रन्थका आश्रय लेता है, कोई इष्टका आश्रय लेता है। किसी-न-किसीका आश्रय लेकर उससे रक्षा चाहता है, उसके अधीन होना चाहता है। इस प्रकार किसी-न-किसीका आश्रय लिये बिना कोई नहीं रहता; और जिसका आश्रय लेता है, उसको बड़ा मानता है, तो ईश्वरवाद सिद्ध

हो गया। जो ईश्वरको नहीं मानता, ऐसा नास्तिक पुरुष भी माँ-बापको बड़ा मानता है, किसीको विद्यामें बड़ा मानता है, किसीको आयुमें बड़ा मानता है; इस तरह किसी-न-किसीको बड़ा मानता ही है। विद्यामें, बुद्धिमें, योग्यतामें, जन्ममें (कि यह हमारेसे पहले जन्मा है) आदि किसी विषयमें किसीको भी अपनेसे बड़ा मान लिया तो ईश्वरवाद सिद्ध हो गया।

ईश्वर सर्वोपरि है, सबसे बड़ा है। पातञ्जलयोग दर्शनमें लिखा है—**'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** (१। २६) अर्थात् पहले जितने हो चुके हैं, उन सबका गुरु है—ईश्वर, क्योंकि उसका कालसे व्यवधान नहीं है। सबसे पहले होनेसे वह ईश्वर सबसे बड़ा है और सब उससे शिक्षा लेते हैं, उसके आश्रित होते हैं। इसलिये उस ईश्वरका ही आश्रय लेना चाहिये। परन्तु एक ईश्वरका आश्रय न लेनेसे कइयोंका आश्रय लेना पड़ता है। कोई पदका आश्रय लेता है, कोई अपनी योग्यताका आश्रय लेता है, कोई अपनी बुद्धिका आश्रय लेता है, कोई अपने बलका आश्रय लेता है, कोई धनका आश्रय लेता है, कोई बेटे-पोतोंका आश्रय लेता है, इस प्रकार मनुष्य जिस-किसीका आश्रय लेता है, वह तो बड़ा हो जाता है और मनुष्य खुद छोटा हो जाता है, गुलाम हो जाता है। वह समझता है कि मेरे पास इतने रुपये हैं, मैं इतने रुपयोंका मालिक हूँ, पर मालिकपना तो वहम है, सिद्ध होता है गुलामपना ! अपने पास रुपये हों तो वह अपनेको बड़ा मानता है और रुपये न हों तो वह अपनेको छोटा मानता है। जब वह रुपयोंसे अपनेको बड़ा मानता है, तो खुद छोटा सिद्ध हो गया न ? बड़े तो रुपये ही हुए। खुदकी तो बेइज्जती ही हुई।

परमात्माका आश्रय लिये बिना सब आश्रय अधूरे हैं, क्योंकि परमात्माके सिवाय और कोई सर्वोपरि तथा पूर्ण नहीं है।

रुपये, बेटे-पोते, पद, योग्यता, समाजका बल, अस्त्र-बल, शास्त्र-बल आदि सब-के-सब तुच्छ ही हैं और पूर्ण भी नहीं हैं। अगर एक परमात्माका आश्रय ले ले, तो फिर और किसीका आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। जो भगवान्‌के चरणोंका आश्रय ले लेता है, उसको फिर दूसरे आश्रयकी जरूरत ही नहीं रहती। सुग्रीवने भगवान् श्रीरामका आश्रय लिया तो भगवान्‌ने कह दिया—***सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें*** (मानस ४।७।५)। लोक-परलोकका सब तरहका काम सिवा ईश्वरके कोई कर ही नहीं सकता। ऐसे सर्वोपरि ईश्वरको छोड़कर जो दूसरी तुच्छ चीजोंका सहारा लेता है, दूसरी तुच्छ चीजोंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है, वह एक तरहसे नास्तिक है—ईश्वरको न माननेवाला है। अगर वह ईश्वरको मानता तो उसको ईश्वरका ही सहारा होता।

भगवान्‌का सहारा लेनेवाला परतन्त्र नहीं रहता। एक विचित्र बात है कि पराधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता! तात्पर्य है कि भगवान्‌के अधीन रहनेवाला पराधीन नहीं रहता; क्योंकि भगवान् 'पर' नहीं हैं। मनुष्य पराधीन तब होता है, जब वह 'पर' के अधीन हो अर्थात् धन, बल, विद्या, बुद्धि आदिके अधीन हो। भगवान् तो अपने हैं—***'ईश्वर अंस जीव अबिनासी'***, इसलिये उनका आश्रय लेनेवाला पराधीन नहीं होता है, सर्वथा स्वाधीन होता है; निश्चिन्त होता है, निर्भय होता है, निःशोक होता है, निशंक होता है। दूसरेके अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी सुख नहीं होता—***'पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं'*** (मानस १।१०२।३); परन्तु भगवान्‌के अधीन रहनेवालेको स्वप्नमें भी दुःख नहीं होता। मीराबाईने कहा—

ऐसे बरको क्या बरूँ, जो जन्मे अरु मर जाय।
बर बरिये गोपालजी, म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

इस तरह केवल भगवान्‌का आश्रय ले ले तो सदाके लिये मौज हो जाय! स्वप्नमें भी किसीकी किञ्चिन्मात्र भी गरज न रहे! जब किसी-न-किसीका आश्रय लेना ही पड़ता है तो सर्वोपरिका ही आश्रय लें, छोटेका आश्रय क्या लें? अतः सबसे पहले ही यह मान लें कि भगवान् हमारे और हम भगवान्‌के हैं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'माता रामो मत्पिता रामचंद्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचंद्रः'

माँ कौन है? भगवान्। बाप कौन है? भगवान्। सखा कौन है? भगवान्। धन कौन है? भगवान्। विद्या क्या है? भगवान्। हमारे सब कुछ भगवान् ही हैं।

वाल्मीकि बाबाके यहाँ लव-कुशका जन्म हुआ था। सीताजीने लव-कुशको सब कुछ सिखाया। सीताजीने ही उनको युद्धविद्या सिखायी कि ऐसे बाण चलाओ। वे सीताजीको ही माँ मानते और सीताजीको ही बाप मानते। सब कुछ सीताजीको ही मानते थे। जब लव-कुशने रामाश्वमेधयज्ञका घोड़ा पकड़ा तो पहले माँ सीताजीको याद करके प्रणाम किया, फिर युद्ध किया। युद्धमें उन्होंने विजय कर ली! वहाँ हनुमान्‌जी थे, अंगद भी थे, शत्रुघ्नजी भी थे, भरतका बेटा पुष्कर भी था, बड़े-बड़े महारथी थे। उन सबको लव-कुशने हरा दिया, उनके छक्के छुड़ा दिये और हनुमान्‌जी तथा अंगदको पकड़ लिया! उनको पकड़ करके माँके पास ले आये और बोले कि हम दो बन्दर लाये हैं खेलनेके लिये! दोनोंकी पूँछ आपसमें बाँध दीं। माँने कहा कि यह क्या

किया तुमने ? जैसे तू मेरा बेटा है, वैसे ही हनुमान् भी मेरा बेटा है। वे बोले कि हमने ठीक किया है, बेठीक नहीं किया है; आप कहो तो छोड़ देंगे। माँके कहनेसे उन्होंने दोनोंको छोड़ दिया। इस तरह माँ सीताजीको ही सर्वोपरि समझनेसे, उनका ही आश्रय लेनेसे छोटे-छोटे बालकोंने रामजीकी सेनापर विजय कर ली !

वाल्मीकिजी लव और कुशको रामजीकी राजसभामें ले गये। वहाँ उन्होंने वाल्मीकिजीकी सिखायी हुई रामायणको बहुत सुन्दर ढंगसे गाया। रामजी उनको इनाम देने लगे तो वे चिढ़ गये कि देखो, राजा कितना अभिमानी है ! हमारेको देता है। हम कोई ब्राह्मण हैं ? हमारे गुरुजीने कहा है कि तुम क्षत्रिय हो, ब्राह्मण नहीं हो। हम लेनेवाले, माँगनेवाले नहीं हैं। फिर उनको समझाया गया कि ये तुम्हारे पूजनीय, आदरणीय पिताजी हैं, नहीं तो वे रामजीको कुछ नहीं समझते थे। उनकी दृष्टिमें तो माँ-बाप आदि जो कुछ है, वह सब सीताजी ही हैं। उनके लिये सीताजीके समान संसारमें कोई नहीं है। इसलिये मनुष्यको किसीका सहारा लेना हो तो सर्वोपरि भगवान्‌के चरणोंका ही सहारा लेना चाहिये, ***'एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।'*** हमारे प्रभु हैं, प्रभुके हम हैं—यह हमारा अभिमान भूलकर भी कभी न जाय—***'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'*** (मानस ३। ११। ११)।

सज्जनो ! कोई रुपयोंका सहारा लेता है, कोई बलका सहारा लेता है, कोई किसीका सहारा लेता है, तो कोई किसीका, इस तरह क्यों दर-दर भटकते हो ? जो अपने हैं, उन प्रभुका ही सहारा लो। अन्तमें उनसे ही काम चलेगा, और किसीसे नहीं चलेगा। भगवान्‌के सिवा और सब कालका चारा है। सबको काल खा जाता है।

भगवान्‌के चरणोंकी शरण ले लो तो निहाल हो जाओगे। आज ही विचार कर लो कि मैं तो भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं, बस। सच्ची बात है, सिद्धान्तकी बात है—पक्की बात है। भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं, चाहे कोई भगवान्‌को माने या न माने, आस्तिक-नास्तिक कैसा ही क्यों न हो! क्योंकि भगवान् सब प्राणियोंमें समान हैं—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९।२९)। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय ले लेता है, उसका तो कहना ही क्या है! उनके चरणोंका आश्रय लेनेसे तो मौज हो ही जाती है! आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है।

धिन सरणो महराजको, निसिदिन करियै मौज।
रामचरण संसार सुख, दई दिखावै नौज॥

भगवान् संसारका सुख कभी न दिखायें। यह संसारका सुख ही फँसानेवाला है। इसीके लोभमें आकर आदमी भगवान्‌से विमुख हो जाता है, भगवान्‌का आश्रय छोड़कर सुखका आश्रय ले लेता है। अतः हमें संसारका सुख लेना ही नहीं है। हमें तों प्रभुके चरणोंकी शरण होना है। वास्तवमें तो सदासे ही हम भगवान्‌के और भगवान् हमारे हैं। उनकी शरण लेनी नहीं पड़ती। जैसे बालकको माँका आश्रय लेना नहीं पड़ता। माँकी गोदीमें बैठकर बालक निर्भय हो जाता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें माँसे बढ़कर कोई नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌से बढ़कर कोई नहीं है। अतः उनके चरणोंकी शरण लेकर निर्भय हो जाय।

═══★═══

धर्मका सार

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्॥
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

(पद्मपुराण, सृष्टि० १९। ३५७-३५८)

—धर्मसर्वस्व अर्थात् पूरा-का-पूरा धर्म थोड़ेमें कह दिया जाय, तो वह इतना ही है कि जो बात अपने प्रतिकूल हो, वह दूसरोंके प्रति मत करो। इसमें सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार आ जाता है। जैसे, आपका यह भाव रहता है कि हरेक आदमी मेरी सहायता करे, मेरी रक्षा करे, मेरेपर विश्वास करे, मेरे अनुकूल बने और दूसरा कोई भी मेरे प्रतिकूल न रहे, मेरेको कोई ठगे नहीं, मेरा कोई नुकसान न करे, मेरा कोई निरादर न करे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि मैं दूसरेकी सहायता करूँ, दूसरेकी रक्षा करूँ, दूसरेपर विश्वास करूँ, दूसरेके अनुकूल बनूँ और किसीके भी प्रतिकूल न रहूँ, किसीको ठगूँ नहीं, किसीका कोई नुकसान न करूँ, आदि-आदि। इस प्रकार आप खुदके अनुभवका आदर करें तो आप पूरे धर्मात्मा बन जायँगे।

मेरा कोई नुकसान न करे—यह हाथकी बात नहीं है, पर मैं किसीका नुकसान न करूँ—यह हाथकी बात है। सब-के-सब मेरी सहायता करें—यह मेरे हाथकी बात नहीं है, पर इस बातसे यह सिद्ध होता है कि मैं सबकी सहायता करूँ। मेरे साथ जिन-जिनका काम पड़े उनकी सहायता करनेवाला मैं बन जाऊँ। मेरेको कोई बुरा न समझे—इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि मैं

किसीको बुरा न समझूँ। यह अनुभवसिद्ध बात है। कोई भी मेरेको बुरा न समझे—यह हाथकी बात नहीं है, पर मैं किसीको बुरा न समझूँ—यह हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको करना ही धर्मका अनुष्ठान है। ऐसा करनेवाला पूरा धर्मात्मा बन जाता है। जो धर्मात्मा होता है, उसको सब चाहते हैं, उसकी सबको गरज रहती है। आदमी किसको नहीं चाहता ? जो स्वार्थी होता है, मतलबी होता है, दूसरोंका नुकसान करता है, उसको कोई नहीं चाहता। परन्तु जो तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे दूसरोंका भला करता है, जिसके हृदयमें सबकी सहायता करनेका, सबको सुख पहुँचानेका भाव है, उसको सब लोग चाहने लगते हैं। जिसको सब लोग चाहते हैं, वह ज्यादा सुखी रहता है। कारण कि अभी अपने सुखके लिये अकेले हम ही उद्योग कर रहे हैं तो उसमें सुख थोड़ा होगा, पर दूसरे सब-के-सब हमारे सुखके लिये उद्योग करेंगे तो हम सुखी भी ज्यादा होंगे और हमारेको लाभ भी ज्यादा होगा।

सब-के-सब हमारे अनुकूल कैसे बनें ? कि हम किसीके भी प्रतिकूल न बनें, किसीके भी विरुद्ध काम न करें। अपने स्वार्थ और अभिमानमें आकर दूसरेका निरादर कर दें, तिरस्कार कर दें, अपमान कर दें और दूसरेको बुरा समझें कि यह आदमी बुरा है, तो फिर दूसरा हमारा आदर-सम्मान करे,हमें अच्छा समझे इसके लायक हम नहीं हैं। जबतक हम किसीको बुरा आदमी समझते हैं, तबतक हमें कोई बुरा आदमी न समझे—इस बातके हम हकदार नहीं होते। इसके हकदार हम तभी होते हैं, जब हम किसीको बुरा न समझें। अब कहते हैं कि बुरा कैसे न समझें ? उसने हमारा बिगाड़ किया है, हमारे धनका नुकसान किया है, हमारा अपमान किया है, हमारी निन्दा की है ! तो इसपर आप

थोड़ी गम्भीरतासे विचार करें। उसने हमारा जो नुकसान किया है, वह हमारा नुकसान होनेवाला था। हमारा नुकसान न होनेवाला हो और दूसरा हमारा नुकसान कर दे—यह हो ही नहीं सकता। परमात्माके राज्यमें हमारा जो नुकसान होनेवाला नहीं था, उस परमात्माके रहते हुए दूसरा हमारा वह नुकसान कैसे कर देगा ? हमारा तो वही नुकसान हुआ, जो अवश्यम्भावी था। दूसरा उसमें निमित्त बनकर पापका भागी बन गया; अतः उसपर दया आनी चाहिये। अगर वह निमित्त न बनता, तो भी हमारा नुकसान होता, हमारा अपमान होता। वह खुद हमारा नुकसान करके, हमारा अपमान करके पापका भागी बन गया, तो वह भूला हुआ है। भूले हुएको रास्ता दिखाना हमारा काम है या धक्का देना ? कोई खड्ढेमें गिरता हो, तो उसको बचाना हमारा काम है या उसको धक्का देना ? अतः उस बेचारेको बचाओ कि उसने जैसे मेरा नुकसान किया है, वैसे किसी औरका नुकसान न कर दे। ऐसा भाव जिसके भीतर होता है, वह धर्मात्मा होता है, महात्मा होता है, श्रेष्ठ पुरुष होता है।

'गीत-गोविन्द' की रचना करनेवाले पण्डित जयदेव एक बड़े अच्छे सन्त हुए हैं। एक राजा उनपर बहुत भक्ति रखता था और उनका सब प्रबन्ध अपनी तरफसे ही किया करता था। वे ब्राह्मण देवता (जयदेव) त्यागी थे और गृहस्थ होते हुए भी 'मेरेको कुछ मिल जाय, कोई धन दे दे'—ऐसा चाहते नहीं थे। उनकी स्त्री भी बड़ी विलक्षण पतिव्रता थी; क्योंकि उनका विवाह भगवान्‌ने करवाया था, वे विवाह करना नहीं चाहते थे। एक दिनकी बात है, राजाने उनको बहुत-सा धन दिया, लाखों रुपयोंके रत्न दिये। उनको लेकर वे वहाँसे रवाना हुए और घरकी तरफ चले। रास्तेमें जंगल था। डाकुओंको इस बातका पता लग गया। उन्होंने

जंगलमें जयदेवको घेर लिया और उनके पास जो धन था,वह सब छीन लिया। डाकुओंके मनमें आया कि यह राजाका गुरु है, कहीं जीता रह जायगा तो हमारेको पकड़वा देगा। अतः उन्होंने जयदेवके दोनों हाथ काट लिये और उनको एक सूखे हुए कुएँमें गिरा दिया। जयदेव कुएँके भीतर पड़े रहे। एक-दो दिनमें राजा जंगलमें आया। उसके आदमियोंने पानी लेनेके लिये कुएँमें लोटा डाला तो वे कुएँमेंसे बोले कि 'भाई, ध्यान रखना, मेरेको लग न जाय। इसमें जल नहीं है, क्या करते हो!' उन लोगोंने आवाज सुनी तो बोले कि यह आवाज तो पण्डितजीकी है! पण्डितजी यहाँ कैसे आये! उन्होंने राजाको कहा कि महाराज! पण्डितजी तो कुएँमेंसे बोल रहे हैं। राजा वहाँ गया। रस्सा डालकर उनको कुएँमेंसे निकाला, तो देखा कि उनके दोनों हाथ कटे हुए हैं। उनसे पूछा गया कि यह कैसे हुआ? तो वे बोले कि भाई देखो, जैसा हमारा प्रारब्ध था, वैसा हो गया। उनसे बहुत कहा गया कि बताओ तो सही, कौन है, कैसा है। परन्तु उन्होंने कुछ नहीं बताया, यही कहा कि हमारे कर्मोंका फल है। राजा उनको घरपर ले गये। उनकी मलहम-पट्टी की, इलाज किया और खिलाने-पिलाने आदि सब तरहसे उनकी सेवा की।

एक दिनकी बात है। जिन्होंने जयदेवके हाथ काटे थे, वे चारों डाकू साधुके वेशमें कहीं जा रहे थे। उनको राजाने भी देखा और जयदेवने भी। जयदेवने उनको पहचान लिया कि ये वही डाकू हैं। उन्होंने राजासे कहा कि देखो राजन्! तुम धन लेनेके लिये बहुत आग्रह किया करते हो। अगर धन देना हो तो वे जो चारों जा रहे हैं, वे मेरे मित्र हैं, उनको धन दे दो। मेरेको धन दो या मेरे मित्रोंको दो, एक ही बात है। राजाको आश्चर्य हुआ कि पण्डितजीने कभी उम्रभरमें किसीके प्रति 'आप दे दो' ऐसा नहीं

कहा, पर आज इन्होंने कह दिया है ! राजाने उन चारोंको बुलवाया। वे आये और उन्होंने देखा कि हाथ कटे हुए पण्डितजी वहाँ बैठे हैं, तो उनके प्राण सूखने लगे कि अब कोई आफत आयेगी ! अब ये हमें मरवा देंगे। राजाने उनके साथ बड़े आदरका बर्ताव किया और उनको खजानेमें ले गया। उनको सोना, चाँदी, मुहरें आदि खूब दिये। लेनेमें तो उन्होंने खूब धन ले लिया, पर पासमें बोझ ज्यादा हो गया। अब क्या करें ? कैसे ले जायँ ? तो राजाने अपने आदमियोंसे कहा कि इनको पहुँचा दो। धनको सवारीमें रखवाया और सिपाहियोंको साथमें भेज दिया। वे जा रहे थे। रास्तेमें उन सिपाहियोंमें जो बड़ा अफसर था, उसके मनमें आया कि पण्डितजी किसीको कभी देनेके लिये कहते ही नहीं और आज देनेके लिये कह दिया, तो बात क्या है ! उसने उनसे पूछा कि महाराज, आप बताओ कि आपने पण्डितजीका क्या उपकार किया है ? पण्डितजीके साथ आपका क्या सम्बन्ध है ? आज हमने पण्डितजीके स्वभावसे विरुद्ध बात देखी है। बहुत वर्षोंसे देखता हूँ कि पण्डितजी किसीको ऐसा नहीं कहते कि तुम इसको दे दो, पर आपके लिये ऐसा कहा, तो बात क्या है ? वे चारों आपसमें एक-दूसरेको देखने लगे, फिर बोले कि 'ये एक दिन मौतके मुँहमें जा रहे थे तो हमने इनको मौतसे बचाया। इनके हाथ ही कटे, नहीं तो गला कट जाता ! उस दिनका ये बदला चुका रहे हैं।' उनकी इतनी बात पृथ्वी सह नहीं सकी। पृथ्वी फट गयी और वे चारों पृथ्वीमें समा गये ! सिपाहीलोगोंको बड़ी मुश्किल हो गयी कि अब धन कहाँ ले जायँ ! वे तो पृथ्वीमें समा गये ! अब वे वहाँसे लौट पड़े और आकर सब बात बतायी। उनकी बात सुनकर पण्डितजी जोर-जोरसे रोने लग गये ! रोते-रोते आँसू पोंछने लगे तो उनके हाथ साबुत हो गये। यह

देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह क्या तमाशा है ! हाथ कैसे आ गये ? राजाने सोचा कि वे इनके कोई घनिष्ठ-मित्र थे, इसलिये उनके मरनेसे पण्डितजी रोते हैं। उनसे पूछा कि महाराज, बताओ तो सही, बात क्या है ? हमारेको तो आप उपदेश देते हैं कि शोक नहीं करना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये, फिर मित्रोंका नाश होनेसे आप क्यों रोते हैं ? शोक क्यों करते हैं ? तो वे बोले कि ये जो चार आदमी थे, इन्होंने ही मेरेसे धन छीन लिया और हाथ काट दिये। राजाने बड़ा आश्चर्य किया और कहा कि महाराज, हाथ काटनेवालोंको आपने मित्र कैसे कहा ? जयदेव बोले कि देखो राजन्! एक जबानसे उपदेश देता है और एक क्रियासे उपदेश देता है। क्रियासे उपदेश देनेवाला ऊँचा होता है। मैंने जिन हाथोंसे आपसे धन लिया, रत्न लिये, वे हाथ काट देने चाहिये। यह काम उन्होंने कर दिया और धन भी ले गये। अतः उन्होंने मेरा उपकार किया, मेरेपर कृपा की, जिससे मेरा पाप कट गया। इसलिये वे मेरे मित्र हुए। रोया मैं इस बातके लिये कि लोग मेरेको सन्त कहते हैं, अच्छा पुरुष कहते हैं, पण्डित कहते हैं, धर्मात्मा कहते हैं और मेरे कारणसे उन बेचारोंके प्राण चले गये ! अतः मैंने भगवान्‌से रो करके प्रार्थना की कि हे नाथ ! मेरेको लोग अच्छा आदमी कहते हैं तो बड़ी गलती करते हैं ! मेरे कारणसे आज चार आदमी मर गये, तो मैं अच्छा कैसे हुआ ? मैं बड़ा दुष्ट हूँ। हे नाथ ! मेरा कसूर माफ करो। अब मैं क्या करूँ ? मेरे हाथकी बात कुछ रही नहीं; अतः प्रार्थनाके सिवा और मैं क्या कर सकता हूँ। राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और बोला कि महाराज, आप अपनेको अपराधी मानते हो कि चार आदमी मेरे कारण मर गये, तो फिर आपके हाथ कैसे आ गये ? वे बोले कि भगवान् अपने जनके अपराधोंको, पापोंको,

अवगुणोंको देखते ही नहीं ! उन्होंने कृपा की तो हाथ आ गये ! राजाने कहा कि महाराज, उन्होंने आपको इतना दुःख दिया तो आपने उनको धन क्यों दिलवाया ? वे बोले कि देखो राजन् ! उनको धनका लोभ था और लोभ होनेसे वे और किसीके हाथ काटेंगे; अतः विचार किया कि आप धन देना ही चाहते हैं तो उनको इतना धन दे दिया जाय कि जिससे बेचारोंको कभी किसी निर्दोषकी हत्या न करनी पड़े। मैं तो सदोष था, इसलिये मुझे दुःख दे दिया। परन्तु वे किसी निर्दोषको दुःख न दे दें, इसलिये मैंने उनको भरपेट धन दिलवा दिया। राजाको बड़ा आश्चर्य आया ! उसने कहा कि आपने मेरेको पहले क्यों नहीं बताया ? वे बोले कि महाराज ! अगर पहले बताता तो आप उनको दण्ड देते। मैं उनको दण्ड नहीं दिलाना चाहता था। मैं तो उनकी सहायता करना चाहता था; क्योंकि उन्होंने मेरे पापोंका नाश किया, मेरेको क्रियात्मक उपदेश दिया। मैंने तो अपने पापोंका फल भोगा, इसलिये मेरे हाथ कट गये। नहीं तो भगवान्‌के दरबारमें, भगवान्‌के रहते हुए कोई किसीको अनुचित दण्ड दे सकता है ? कोई नहीं दे सकता। यह तो उनका उपकार है कि मेरे पापोंका फल भुगताकर मेरेको शुद्ध कर दिया।

इस कथासे सिद्ध होता है सुख या दुःखको देनेवाला कोई दूसरा नहीं है; कोई दूसरा सुख-दुःख देता है—यह समझना कुबुद्धि है—**'सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परो ददातीति कुबुद्धिरेषा'** (अध्यात्म० २। ६। ६)। दुःख तो हमारे प्रारब्धसे मिलता है, पर उसमें कोई निमित्त बन जाता है तो उसपर दया आनी चाहिये कि बेचारा मुफ्तमें ही पापका भागी बन गया ! रामायणमें आता है कि वनवासके लिये जाते समय रात्रिको रामजी निषादराज गुहके यहाँ ठहरे। निषादराजने कहा—***कैकयनंदिनि***

मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह । जेहिं रघुनंदन जानकिहि सुख अवसर दुखु दीन्ह ॥' (मानस २ । ९१) । तब लक्ष्मणजीने कहा —***'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥'*** (मानस २ । ९२ । २) । अतः दूसरा मेरेको दुःख देता है, मेरा अपमान करता है, मेरी निन्दा करता है, मेरेको कष्ट पहुँचाता है, मेरा नुकसान करता है—ऐसा जो विचार आता है, यह कुबुद्धि है, नीची बुद्धि है । वास्तवमें दोष उसका नहीं है, दोष है हमारे पापोंका, हमारे कर्मोंका । इसलिये परमात्माके राज्यमें कोई हमारेको दुःख दे ही नहीं सकता । हमारेको जो दुःख मिलता है, वह हमारे पापोंका ही फल है । पापका फल भोगनेसे पाप कट जायगा और हम शुद्ध हो जायँगे । अतः कोई हमारा नुकसान करता है, अपमान करता है,निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह हमारे पापोंका नाश कर रहा है—ऐसा समझकर उसका उपकार मानना चाहिये, प्रसन्न होना चाहिये ।

किसीके द्वारा हमारेको दुःख हुआ तो वह हमारे प्रारब्धका फल है; परन्तु अगर हम उस आदमीको खराब समझेंगे, गैर समझेंगे, उसकी निन्दा करेंगे, तिरस्कार करेंगे, दुःख देंगे, दुःख देनेकी भावना करेंगे, तो अपना अन्तःकरण मैला हो जायगा, हमारा नुकसान हो जायगा ! इसलिये संतोंका यह स्वभाव होता है कि दूसरा उनकी बुराई करता है, तो भी वे उसकी भलाई करते हैं ***'उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥'*** (मानस ५ । ४१ । ४) । ऐसा संत-स्वभाव हमें बनाना चाहिये । अतः कोई दुःख देता है तो उसके प्रति सद्भावना रखो, उसको सुख कैसे मिले—यह भाव रखो । उसमें दुर्भावना करके मनको मैला कर लेना मनुष्यता नहीं है । इसलिये तनसे, मनसे, वचनसे

सबका हित करो, किसीको दुःख न दो। जो तन-मन-वचनसे किसीको दुःख नहीं देता, वह इतना शुद्ध हो जाता हैं कि उसका दर्शन करनेसे पाप नष्ट होते हैं !

तन कर मन कर वचन कर, देत न काहू दुक्ख।
तुलसी पातक हरत है, देखत उसको मुक्ख॥

═══ ★ ═══

विश्वास और जिज्ञासा

मनुष्य अपनी तरफ नहीं देखता कि मेरा जन्म क्यों हुआ है, मेरेको क्या करना चाहिये और मैं क्या कर रहा हूँ ! जबतक वह ऐसा ख्याल नहीं करता, तबतक उस मनुष्यका दर्जा, आप क्षमा करेंगे, पशुसे भी नीचा है ! पशु, पक्षी, वृक्ष आदिसे भी उसका जीवन नीचा है ! मनुष्य हो करके भी सावधानी नहीं है तो क्या मनुष्य हुआ ? मनुष्यमें तो यह सावधानी, यह विचार होना ही चाहिये कि हमारा जन्म क्यों हुआ है और क्या करना चाहिये तथा क्या नहीं करना चाहिये। खुदसे इसका समाधान न हो तो न सही, पर सन्तोंकी वाणीसे, शास्त्रोंसे इसका पूरा समाधान हो जायगा कि यह मनुष्यजन्म केवल अपना उद्धार करनेके लिये ही मिला है। भगवान्‌ने अपनी तरफसे यह अन्तिम जन्म दे दिया है, जिससे यह मेरेको प्राप्त कर ले।

ब्रह्माजीने यज्ञोंके सहित प्रजाकी उत्पत्ति की—**'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः'** (गीता ३। १०) अर्थात् कर्तव्य और कर्ता—ये दोनों एक साथ पैदा हुए। जो कर्तव्य है, वह सहज है। आज जो हमें कर्तव्य-कर्म करनेमें परिश्रम मालूम देता है, उसका कारण यह है कि हम संसारसे सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, नहीं तो यह स्वयं भी सहज है और इसका जो कर्तव्य है, वह भी सहज है, स्वाभाविक है। अस्वाभाविकता यह खुद बना लेता है। इसको यह विचार नहीं होता कि अस्वाभाविकता कहाँ बना ली ? कैसे बना ली ? अगर विचार करे तो यह निहाल हो जाय !

अब एक बात बताते हैं। दो मार्ग हैं—एक विश्वासका मार्ग और एक जिज्ञासाका मार्ग। विश्वास वहाँ होता है, जहाँ सन्देह नहीं होता, सन्देह पैदा ही नहीं होता। जो सन्देहयुक्त विश्वास होता है, वह विश्वास-रूपसे प्रकट नहीं होता। परन्तु जिज्ञासा वहाँ होती है, जहाँ सन्देह होता है। भक्तिमार्गमें विश्वास, निःसंदिग्धता मुख्य है और ज्ञानमार्गमें जिज्ञासा, सन्देह मुख्य है। विश्वास और जिज्ञासा—इन दोनोंको मिलानेसे साधकका जीवन शुद्ध नहीं रहता, अशुद्ध हो जाता है।

विश्वास किसमें होता है? कि जिसमें हम इन्द्रियोंसे, अन्तःकरणसे कुछ नहीं जानते, उसमें विश्वास होता है अथवा विश्वास नहीं होता। जैसे, 'भगवान् हैं'—यह विश्वास होता है अथवा विश्वास नहीं होता—ये दो ही बातें होती हैं। भगवान् हैं कि नहीं यह बात वास्तवमें विश्वासीकी नहीं है, जिज्ञासुकी है। है कि नहीं—यह सन्देह जीवात्मापर होता है अथवा संसारपर होता है। कारण कि 'मैं हूँ' इसमें तो सन्देह नहीं है पर 'मैं क्या हूँ' इसमें सन्देह होता है। अतः सन्देहसहित जो सत्ता है, उसमें जिज्ञासा पैदा होती है। स्वयंका और संसारका ज्ञान जिज्ञासासे होता है। परमात्माको मानना अथवा न मानना—इसमें आप बिल्कुल स्वतन्त्र हैं। कारण कि परमात्माके विषयमें हम कुछ नहीं जानते और जिस विषयमें कुछ नहीं जानते, उसमें केवल विश्वास चलता है। जिसमें विश्वास होता है, उसमें सन्देह नहीं रहता—इतनी विचित्र बात है यह! जैसे, स्त्री, पुत्र आदिको अपना मान लेनेसे फिर उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि यह स्त्री मेरी है कि नहीं? बेटा मेरा है कि नहीं? यह लौकिक मान्यता टिकती नहीं; क्योंकि यह मान्यता जिसकी है, वह नाशवान् है। परन्तु परमात्मा अविनाशी है; अतः उनकी मान्यता टिक जाती है, दृढ़ हो जाती

है तो उसकी प्राप्ति हो जाती है। हमने सन्तोंसे यह बात सुनी है कि जो भगवान्‌को मान लेता है, उसको अपना स्वरूप जना देनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर आ जाती है! कितनी विलक्षण बात है। भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं—इसका ज्ञान उसको खुदको नहीं करना पड़ता। वह तो केवल मान लेता है कि 'भगवान् हैं' वे कैसे हैं, कैसे नहीं—यह सन्देह उसको होता ही नहीं।

पहले केवल भगवान्‌की सत्ता स्वीकार हो जाय कि 'भगवान् हैं', फिर भगवान्‌में विश्वास हो जाता है। संसारका विश्वास टिकता नहीं; क्योंकि हमें इस बातका ज्ञान है कि वस्तु, व्यक्ति आदि पहले नहीं थे, पीछे नहीं रहेंगे और अब भी निरन्तर नाशकी तरफ जा रहे हैं। परन्तु भगवान्‌के विषयमें ऐसा नहीं होता; क्योंकि शास्त्रोंसे, सन्तोंसे, आस्तिकोंसे हम सुनते हैं कि भगवान् पहले भी थे, पीछे भी रहेंगे और अब भी हैं। भगवान्‌पर विश्वास बैठनेपर फिर उनमें अपनत्व हो जाता है कि 'भगवान् हमारे हैं।' जीवात्मा भगवान्‌का अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७); अतः भगवान् हमारे हुए। इसलिये आस्तिकभाववालोंको यह दृढ़तासे मान लेना चाहिये कि भगवान् हैं और हमारे हैं। ऐसी दृढ़ मान्यता होनेपर फिर भगवान्‌से मिले बिना रहा नहीं जा सकता। जैसे, बालक दुःख पाता है तो उसके मनमें माँसे मिलनेकी आती है कि माँ मेरेको गोदीमें क्यों नहीं लेती? उसके मनमें यह बात पैदा ही नहीं होती कि मैं योग्य हूँ कि अयोग्य हूँ, पात्र हूँ कि अपात्र हूँ।

जैसे भगवान्‌पर विश्वास होता है, ऐसे ही भगवान्‌के सम्बन्धपर भी विश्वास होता है कि भगवान् हमारे हैं। भगवान् कैसे हैं, मैं कैसा हूँ—यह बात वहाँ नहीं होती। भगवान् मेरे हैं; अतः मेरेको अवश्य मिलेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास कर ले। यह 'मेरा'-पन बड़े-बड़े साधनोंसे ऊँचा है। त्याग, तपस्या, व्रत,

उपवास, तितिक्षा आदि जितने भी साधन हैं, उन सबसे ऊँचा साधन है—भगवान्‌में अपनापन। अपनेपनमें कोई विकल्प नहीं होता। करनेवाले तो करनेके अनुसार फलको प्राप्त करेंगे, पर भगवान्‌को अपना माननेवाले मुफ्तमें पूर्ण भगवान्‌को प्राप्त करेंगे। करनेवाले जितना-जितना करेंगे, उनको उतना-उतना ही फल मिलेगा, परन्तु भगवान्‌में अपनापन होनेसे भगवान्‌पर पूर्ण अधिकार मिलेगा। जैसे, बालक माँपर अपना पूरा अधिकार मानता है कि माँ मेरी है, मैं माँसे चाहे जो काम करा लूँगा, उससे चाहे जो चीज ले लूँगा। बालकके पास बल क्या है? रो देना—यही बल है। निर्बल-से-निर्बल आदमीके पास रोना ही बल है। रोनेमें क्या जोर लगाना पड़े? बच्चा रोने लग जाय तो माँको उसका कहना मानना पड़ता है। इसी तरह रोने लग जाय कि भगवान् मेरे हैं तो फिर दर्शन क्यों नहीं देते? मेरेसे मिलते क्यों नहीं? भीतरमें ऐसी जलन पैदा हो जाय, ऐसी उत्कण्ठा हो जाय कि भगवान् मिलते क्यों नहीं! इस जलनमें, उत्कण्ठामें इतनी शक्ति है कि अनन्त जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं; कोई भी दोष नहीं रहता, निर्दोषता हो जाती है। जो भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाता है, उसकी निर्दोषता स्वतः हो जाती है। व्याकुलताकी अग्निमें पाप-ताप जितने जल्दी नष्ट होते हैं, उतने जल्दी जिज्ञासामें नहीं होते। जिज्ञासा बढ़ते-बढ़ते जब वह जिज्ञासुरूपसे हो जाती है अर्थात् जिज्ञासु नहीं रहता, केवल जिज्ञासा रह जाती है तब उसकी सर्वथा निर्दोषता हो जाती है और वह तत्त्वको प्राप्त हो जाता है।

जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ'—यह मैं-पन रहता है, तबतक जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट नहीं होता। जब यह मैं-पन नहीं रहता, तब जिज्ञास्य तत्त्व प्रकट हो जाता है। चाहे जिज्ञासा हो, चाहे विश्वास

हो, दोनोंमेंसे कोई एक भी दृढ़ हो जायगा तो तत्त्व प्रकट हो जायगा। कर्तव्यका पालन स्वतः हो जायगा; जिज्ञासुसे भी कर्तव्यका पालन होगा और विश्वासीसे भी कर्तव्यका पालन होगा। दोनों ही अपने कर्तव्य कर्मका तत्परतासे पालन करेंगे।

विश्वासी मनुष्य कर्तव्यकी दृष्टिसे कर्तव्यका पालन नहीं करता; परन्तु भगवान्‌के वियोगमें रोता है। रोनेमें ही उसका कर्तव्य पूरा हो जाता है। उसमें केवल भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा रहती है। केवल भगवान्-ही-भगवान् याद रहते हैं। भगवान्‌के सिवा और कोई चीज सुहाती नहीं—***'अब कुछ भी नहीं सुहावे, एक तू ही मन भावे।'*** दिनमें भूख नहीं लगती, रातमें नींद नहीं आती, बार-बार व्याकुलता होती है—***'दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा, छिन-छिन व्याकुल होत हिया।'*** व्याकुलतामें बहुत विलक्षण शक्ति है। यह जो भजन-स्मरण करना है, त्याग-तपस्या करना है, तीर्थ-उपवास आदि करना है, ये सभी अच्छे हैं, परन्तु ये धीरे-धीरे पापोंका नाश करते हैं; और व्याकुलता होनेपर आग लग जाती है, जिसमें सब पाप भस्म हो जाते हैं।

श्रोता—ऐसी व्याकुलता कैसे पैदा हो?

स्वामीजी—संसारके संयोगका सुख न ले। जैसे प्राण चलता रहता है तो चलनेमें परिश्रम होनेसे भूख-प्यास स्वतः पैदा होती हैं। परन्तु दिनभर तरह-तरहकी चीजें खाते रहोगे तो असली भूख नहीं लगेगी। दूसरा खाना बन्द करो, केवल भोजनके सिवा कुछ नहीं खाओ तो भूख लग जायगी, तेज हो जायगी। ऐसे ही केवल भगवान्‌को चाहें, उनके सिवा और कुछ न चाहें। सुख, मान, बड़ाई, आदर, आराम, आलस्य आदि किसी प्रकारकी इच्छा न हो। किसी भी चीजसे सुख न लें, भूख लगे तो रोटी खा लेनी

है, नींद आये तो सो जाना है, पर उसमें सुख नहीं लेना है। ऐसा परहेज रखें तो व्याकुलता पैदा हो जायगी।

जीव कुछ-न-कुछ असत्‌का आधार बना लेता है, जिससे वह सत्‌से विमुख हो जाता है। अतः असत्‌का उपयोग कर लो; भोजन कर लो, जल पी लो, सो जाओ, सब काम कर लो, पर भीतरमें इनका आधार विश्वास, आश्रय मत रखो,फिर व्याकुलता पैदा हो जायगी।

हम सबको इस बातका प्रत्यक्ष ज्ञान है कि शरीर रहनेवाला नहीं है, सम्पत्ति रहनेवाली नहीं है, कुटुम्ब रहनेवाला नहीं है, यह जो कुछ दीखता है, यह सब रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानते हुए भी इस ज्ञानका निरादर करते हैं—यह बड़ा भारी अवगुण है, बड़ी भारी गलती है। अगर इस ज्ञानका आदर करें तो संसारकी इच्छा मिट जायगी; क्योंकि जो वस्तु स्थिर है ही नहीं, उसकी क्या इच्छा करें ? ***'का मागूँ कछु थिर न रहाई, देखत नैन चल्यो जग जाई।'*** संसारकी इच्छा मिटते ही भगवान्‌का विरह आ जाता है। संसारकी इच्छा, आशा ही भगवान्‌के विरहको रोकनेवाली चीज है।

मनुष्य जिसको नाशवान् जानता है, फिर भी उसकी आशा रखता है तो यह बहुत बड़ा अपराध करता है। झूठ-कपट करके जालसाजी, बेईमानी करके अपनी असत् भावनाको दृढ़ करता है, तो इससे बढ़कर अनर्थ क्या होगा ? धन है, बेटा-पोता है, बल है, विद्या है, योग्यता है, पद है, अधिकार है, ये कितने दिनसे हैं ? कितने दिन रहेंगे ? इनसे कितने दिन काम चलाओगे ? इनके साथ जितने दिन संयोग है, उसका वियोग होनेवाला है, वह वियोग जल्दी हो, देरीसे हो, कब हो, कब नहीं हो—इसका पता नहीं; पर संयोगका वियोग होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। जिनका वियोग हो जायगा, उसपर विश्वास कैसे ? जो

प्रतिक्षण बिछुड़ रहा है, उसको कबतक निभाओगे ? वह कबतक सहारा देगा ? वह कबतक आपके काम आयेगा ? फिर भी उसपर विश्वास करना अपनी जानकारीका स्वयं निरादर करना है। अपनी जानकारीका अनादर करना बहुत बड़ा अपराध है। अपराध पापोंसे भी तेज होता है। जो 'परमात्मा है'—इसको मानता नहीं और 'संसार है'—इसको मानता है, वह महान् हत्यारा है, पापी है।

आप जानते हैं कि संसार नहीं रहेगा, शरीर नहीं रहेगा, फिर भी चाहते हैं कि इतना सुख ले लें, इतना लाभ ले लें, इस वस्तुको ले लें अर्थात् जानते हुए भी मानते नहीं ! इसमें अनजानपनेका दोष नहीं है, न माननेका दोष है, जो आपको खुद दूर करना पड़ेगा। जानकारीकी कमी होगी तो जानकारलोग बता देंगे, शास्त्र बता देंगे, सन्त-महात्मा बता देंगे, भगवान् बता देंगे, पर जाने हुएको आप नहीं मानेंगे तो इसमें दूसरा कुछ नहीं कर सकेगा। मानना तो आपको ही पड़ेगा, इतना काम आपका खुदका है।

नाशवान्‌की मुख्यतासे हानि

हम लोगोंकी मुख्य भूल क्या होती है? कि जो जड़ है, नाशवान् है, परिवर्तनशील है, उसको तो सच्चा मान लेते हैं; मुख्य मान लेते हैं; और जो चेतन है, अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, उसको गौण मान लेते हैं। हम शरीरकी मुख्यताको ले करके सब काम करते हैं। हम तो यहीं (संसारमें) रहनेवाले हैं, यहाँके ही आदमी हैं—इस प्रकार हमने अपनेको शरीर-संसारके साथ मान लिया। शरीरका आदर हमारा आदर हो गया, शरीरकी निन्दा हमारी निन्दा हो गयी—इस प्रकार जड़ताकी मुख्यताको लेकर चलने लगे और चेतनकी मुख्यताको बिलकुल भुला दिया, मानो है ही नहीं! मुख्यमें अमुख्यकी भावना और अमुख्यमें मुख्यकी भावना; जो वास्तविक है, उसका तिरस्कार और जो अवास्तविक है, उसका आदर—यह मूल भूल हो गयी। अब कई भूलें होंगी। एक भूलमें अनन्त भूलें होती हैं।

धुर बिगड़े सुधरे नहीं, कोटिक करो उपाय।
ब्रह्माण्ड लौं बड़ गये, वामन नाम न जाय॥

भगवान्‌के अवतारोंमें सबसे लम्बा 'त्रिविक्रम' अवतार हुआ, जिसके तीन कदम भी त्रिलोकीमें पूरे नहीं हुए! परन्तु उसका नाम तो 'वामन-अवतार' ही हुआ। इतना बड़ा अवतार होनेपर भी नाम तो छोटा ही रहा। कारण कि आरम्भमें, मूलमें ही बात बिगड़ गयी, तो अब कितना ही प्रयत्न करो, बात सुधरेगी नहीं। ऐसे ही मूलमें जड़ताको मुख्यता दे दी, तो अब भूलोंका

अन्त नहीं आयेगा, तरह-तरहकी भूलें होंगी। अगर हम इस भूलको सुधारना चाहें तो हमारे लिये एक बहुत आवश्यक बात है कि जड़ और क्षणभङ्गुर शरीरकी मुख्यता न रखें।

यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मैं नहीं बदला हूँ, शरीर बदला है। फिर भी बदलनेवालेको ही मुख्यता देते हैं कि हम छोटे हो गये, हम बड़े हो गये, हम स्वस्थ हो गये, हम बीमार हो गये, हमारा आदर हो गया, हमारा निरादर हो गया! कहाँ तुम्हारा आदर हो गया ? कहाँ तुम्हारा निरादर हो गया ? हमारी बात नहीं रही, तुम्हारी बात रह गयी तो बाधा क्या लगी ? इस न रहनेवाली चीजकी भी कोई सत्ता है क्या ? इसकी भी कोई महत्ता है क्या ? पर मूलमें जड़ताकी, नाशवान्‌की मुख्यता मान ली। जो वास्तविकता है, उसकी परवाह ही नहीं! अब बातें सुनाओ, पढ़ाओ, सब कुछ करो, पर भूलको छोड़ेंगे नहीं! बस, हमारे नामकी महिमा होनी चाहिये, हमारे रूपका आदर होना चाहिये— यह बात भीतर बैठी है। अब कितना ही सुनो-सुनाओ, सब रद्दी हो जायगा! अब इस बातको जान लें कि वास्तवमें नाम हमारा नहीं है, हमारा रूप शरीर नहीं है। जब पेटमें थे, तब नाम नहीं था। जब जन्मे, तब भी नाम नहीं था। दस दिनके बाद नाम धर दिया। वह नाम भी अगर बादमें बदल दिया तो उसको पकड़ लिया। नाम और रूप—दोनों बदलनेवाले हैं, मिटनेवाले हैं। जो मिटनेवाला है, उसको तो पकड़ लिया और जो रहनेवाला है उसकी परवाह ही नहीं! आप-से-आप भी विचार नहीं करते और कहनेपर भी ख्याल नहीं करते, कितनी बड़ी गलतीकी बात है! कम-से-कम उसका ख्याल तो करना चाहिये कि यह बात ऐसी है; अब तो हम चेत गये, होशमें आ गये; अब ऐसी गलती नहीं करेंगे। अगर अभी ख्याल नहीं किया तो जितना दुःख पाना

पड़ेगा, इसीसे ही पाना पड़ेगा। जन्म-मरण भी इसीसे होगा। नरक भी इसीसे होगा। बिलकुल उलटी बात पकड़ ली, तो अब उसका नतीजा सुलटा कैसे होगा? उलटा ही नतीजा होगा। अभीसे सावधान हो करके अपना काम ठीक तरहसे कर लेना चाहिये, नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी भाई!

एक कायदा है कि जिसको मान लेते हैं, उसमें जिज्ञासा नहीं होती, शंका नहीं होती। वहाँ यह बात उत्पन्न ही नहीं होती कि यह क्या चीज है। अतः मानना ही हो तो भगवान्‌को मान लो। माननेके बाद फिर शंका मत करो, सन्देह मत करो। जैसे, ब्याह हो गया, तो हो गया, बस। अब उसमें कभी भी शंका नहीं, सन्देह नहीं होता, जिज्ञासा नहीं होती। जैसे बोध हो जानेपर अज्ञान नहीं होता, ऐसे ही मान लेनेपर मानना उलटा नहीं होता। मानना और जानना—दोनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। मानना परमात्माको है और जानना स्वरूपको तथा संसारको है।

ये तीन बातें बड़े ध्यान देनेकी हैं कि हमारे पास जितनी चीजें हैं, वे पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और इस समय भी हमारेसे प्रतिक्षण अलग हो रही हैं। यहाँ आकर बैठे, उस समय जितनी उम्र थी, उतनी उम्र अब नहीं रही, मौत उतनी नजदीक आ गयी। शरीरका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। भगवान्‌ने कहा—'**अन्तवन्त इमे देहाः**; (गीता २।१८) अर्थात् ये शरीर अन्तवाले हैं। जैसे धनवान् होता है, ऐसे ही ये शरीर अन्तवान् हैं, नाशवान् हैं। परन्तु जो सब जगह परिपूर्ण अविनाशी है, उसको मुख्यता न देकर विनाशीको मुख्यता दे रहे हैं—यहाँ गलती होती है। इसका सुधार कर लिया जाय तो सब सुधर जायगा।

मुख्यता स्वयंकी रहनी चाहिये। मुक्ति भी स्वयंकी होती है, शरीरकी नहीं। शरीरको अपना माननेसे ही बन्धन हुआ है। उलटा

मान लिया—यही बन्धन है। अतः चाहे सुलटा मान लो, चाहे ठीक तरहसे जान लो कि बन्धन क्या है, मुक्ति क्या है। फिर काम ठीक हो जायगा। उलटा मान लेते हो और जानते हो नहीं—यही गलती है।

एक मिश्रीके पहाड़पर रहनेवाली कीड़ी (चींटी) थी और एक नमकके पहाड़पर रहनेवाली। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने दूसरी कीड़ीसे कहा कि तू यहाँ क्या करती है ? मेरे साथ चल। मिठास तो हमारे वहाँ है ! नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि क्या वहाँ इससे भी बढ़िया मिठास है ? दूसरी कीड़ी बोली कि कैसी बात करती है ! बढ़िया-घटियाकी बात तो तब हो, जब यहाँ मिठास हो। यहाँ मिठास है ही नहीं; यहाँ तो बिलकुल इससे विरुद्ध बात है। फिर वह नमकके पहाड़वाली कीड़ीको अपने वहाँ ले गयी और बोली कि देख, यहाँ कितना मिठास है। नमकके पहाड़वाली कीड़ी बोली कि मेरेको तो कोई फरक नहीं दीखता ! तुम कहती हो तो मैं हाँ-में-हाँ मिला दूँ, पर मेरेको तो वैसा ही स्वाद आ रहा है। मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीको आश्चर्य आया कि बात क्या है। उसने ध्यानसे देखा तो पता चला कि नमकके पहाड़वाली कीड़ीने अपने मुखमें नमककी डली पकड़ी हुई है, अब दूसरा स्वाद आये ही कैसे ? उससे कहा कि नमककी डलीको मुखसे निकाल, फिर देख इसका स्वाद। उसने नमककी डली मुखसे निकालकर मिश्रीको चखा तो बस, उसीके साथ चिपक गयी ! मिश्रीके पहाड़वाली कीड़ीने पूछा कि बता, कैसा स्वाद है ? तो वह बोली—हल्ला मत कर, चुप हो जा ! ऐसे ही आप सब बातें सुनते हैं, पर नमककी डलीको पकड़े रहते हैं कि शरीर सच्चा है, शरीरका मान-अपमान सच्चा है, शरीरका आराम सच्चा है, शरीरका सुख अच्छा है, आदि। इस बातको ऐसे जोरसे

पकड़े रहते हो कि कहीं यह ढीली न पड़ जाय, कहीं यह मान्यता शिथिल न पड़ जाय ! ऐसी सावधानी रखते हुए सत्संग करते हैं। वास्तवमें यह कुसंग (असत्‌का संग) हो रहा है, सत्संग नहीं हो रहा है।

मान्यता होनेपर फिर शंका नहीं रहती, जिज्ञासा नहीं रहती। मेरा अमुक नाम है—ऐसा माननेपर फिर यह नहीं होता कि मेरा अमुक नाम कैसे है ? कबसे है ? क्यों पड़ा है ? विवाह होनेपर आप मान लेते हो कि हमारी पत्नी है, और वह मान लेती है कि हमारे पति हैं। पति क्यों है ? कैसे है ? कबसे है ? कितने दिन रहनेवाला है ?—ऐसा कोई विचार पैदा ही नहीं होता। इसी तरह 'मैं शरीर हूँ' यह मान्यता दृढ़ कर ली,तो अब मान, बड़ाई, आदर, निरादर आदि जो कुछ है, वह हमारा कैसे हो रहा है—यह शंका ही नहीं होती। जब बनावटी बातको माननेसे यह दशा होती है, तो फिर 'भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं' इस वास्तविक बातको दृढ़तासे मान लो निहाल हो जाओ ! अगर अब भी सावधानी हो जाय तो बड़ी अच्छी बात है, नहीं तो यह सावधानी कब होगी ?

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु ही क्रियासाध्य होती है और उसीकी प्राप्तिमें समय लगता है। तत्त्वप्राप्तिमें समय नहीं लगता; क्योंकि तत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। वह तो स्वतःसिद्ध है। सीधी बात है कि शरीर बार-बार जन्मता-मरता है और स्वयं वही-का-वही रहता है—'**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' (गीता ८। १९)। '**स एवायं**' स्वयं है और '**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**' शरीर है। जो रहता है, उसको तो मानते नहीं और जो जाता रहता है, उसको मानते हैं। अतः इसमें थोड़ा जोर लगायें कि ऐसा हम नहीं मानेंगे। अब निरादर हो गया तो क्या हो गया !

अपमान हो गया तो क्या हो गया ! जैसे, पत्थरका निरादर हो गया तो क्या ! अपमान हो गया तो क्या ! सही बातको सही मान लें, बस । सही बात समझमें नहीं आये तो शास्त्र और सन्त-महात्माकी बात मान लो कि भगवान् हैं और वे हमारे हैं। उनकी बात माननेसे भगवत्प्राप्तिकी जिम्मेवारी उन्हींपर आयेगी। परन्तु यदि उनकी बात नहीं मानेंगे, उलटी बात मानेंगे, तो इसकी जिम्मेवारी आपपर आयेगी अर्थात् इसका दण्ड आपको भोगना पड़ेगा।

आप सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं हूँ। बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी यह बात सिद्ध नहीं कर सकते कि शरीर मैं ही हूँ। उलटी बात कैसे सिद्ध होगी ? परन्तु आपने उलटी बातको पकड़ रखा है ! नाम, रूप, जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिको पकड़कर बैठे हैं। उसे छोड़ेंगे नहीं, भले ही कोई कुछ कहे। कारण कि उस बातको मान लिया है, और मान लेनेके बाद जिज्ञासा होती ही नहीं। परमात्माको न मानकर उसपर शंका करते हैं। वास्तवमें यह माननेकी चीज है, शंका करनेकी चीज नहीं है। शंका करनी हो संसारपर करो अथवा स्वयं अपनेपर करो। ये दो ही जिज्ञासाके विषय हैं। परमात्माको न मानो तो फिर बिलकुल मत मानो और मानो तो फिर बिलकुल मानो। परन्तु उलटी बातको मत मानो। जो प्रत्यक्षमें नाशवान् है, टिकनेवाली चीज नहीं है; जो पहले नहीं थी, पीछे नहीं रहेगी, वह बीचमें कैसे हो गयी—इस बातको ठीक समझ लो, फिर सब ठीक हो जायगा।

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा विरचित उपलब्ध साहित्य

१. साधक-संजीवनी—गीताकी विस्तृत टीका (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
२. गीता-माधुर्य (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, नेपाली गुजराती, तमिल, बँगला, कन्नड़, उर्दू)
३. गीता-दर्पण (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
४. वासुदेवः सर्वम्
५. नित्ययोगकी प्राप्ति
६. सहज साधना
७. महापापसे बचो (हिन्दी, बँगला)
८. सन्तानका कर्तव्य (हिन्दी, बँगला)
९. आवश्यक शिक्षा
१०. सच्चा गुरु कौन ?
११. एकै साधै सब सधै
१२. सत्संगकी विलक्षणता
१३. साधकोंके प्रति
१४. कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती)
१५. तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती)
१६. मानसमें नाम-वन्दना
१७. वास्तविक-सुख
१८. भगवन्नाम (हिन्दी, अँग्रेजी)
१९. कर्म-रहस्य (हिन्दी, तमिल)
२०. गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, बँगला)
२१. भगवान्से अपनापन
२२. जीवनका सत्य
२३. भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
२४. स्वाधीन कैसे बनें ? (हिन्दी, अँग्रेजी)
२५. शरणागति
२६. सत्संगका प्रसाद
२७. अच्छे बनो
२८. जीवनका कर्तव्य
२९. जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग
३०. सच्चा आश्रय
३१. नाम-जपकी महिमा
३२. मूर्ति-पूजा (हिन्दी, बँगला)
३३. हम ईश्वरको क्यों मानें ? (हिन्दी, बँगला)
३४. दुर्गतिसे बचो (हिन्दी, बँगला)
३५. साधन और साध्य
३६. मातृशक्तिका घोर अपमान
३७. जिन खोजा तिन पाइया
३८. किसानोंके लिये शिक्षा
३९. तत्त्वज्ञान कैसे हो ?

—★—

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेसकी निजी दूकानें

		☎
१.	**गोविन्दभवन-कार्यालय**	
	१५१, महात्मागांधी रोड, कलकत्ता-७००००७	३८६८९४
२.	**गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,**	
	२६०९, नयी सड़क, दिल्ली-११०००६	३२६९६७८
३.	**गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,**	
	अशोक राजपथ, पटना-८००००४	
४.	**गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,**	
	२४/५५, बिरहाना रोड, कानपुर-२०८००१	२५२३५१
५.	**गीताप्रेस, पेपर एजेन्सी,**	
	५९ । ९, नीचीबाग, वाराणसी-२२१००१	५७१५१
६.	**गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान,**	
	सब्जीमण्डी,मोतीबाजार हरिद्वार-२४९४०१	
७.	**गीताभवन, गंगापार, स्वर्गाश्रम**-२४९३०४	३०१२२

गीताप्रेसकी स्टेशन स्टालें

१-दिल्ली जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १; २-नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८ । ९; ३-अन्तर्राज्यीय बस अड्डा (दिल्ली); ४-निजामुद्दीन (नयी दिल्ली), प्लेटफार्म नं० ४-५; ५-कोटा (राजस्थान) प्लेटफार्म नं० १; ६-कानपुर, प्लेटफार्म नं० १; ७-गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १; ८-वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ३; ९-हरिद्वार, प्लेटफार्म नं० १; १०-पटना, पुस्तक-ट्रॉली, प्लेटफार्म नं० १

अन्य अधिकृत पुस्तक विक्रेता

श्रीगीताप्रेस पुस्तक प्रचार केन्द्र, फोन : ५६३३७९
"बुलियन बिल्डिंग", जौहरी बाजार, जयपुर—३०२००३

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज द्वारा विरचित उपलब्ध साहित्य

१. साधक-संजीवनी—गीताकी विस्तृत टीका (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
२. गीता-माधुर्य (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, नेपाली गुजराती, तमिल, बँगला, कन्नड़, उर्दू)
३. गीता-दर्पण (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी)
४. वासुदेवः सर्वम्
५. नित्ययोगकी प्राप्ति
६. सहज साधना
७. महापापसे बचो (हिन्दी, बँगला)
८. सन्तानका कर्तव्य (हिन्दी, बँगला)
९. आवश्यक शिक्षा
१०. सच्चा गुरु कौन ?
११. एकै साधै सब सधै
१२. सत्संगकी विलक्षणता
१३. साधकोंके प्रति
१४. कल्याणकारी प्रवचन (हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती)
१५. तात्त्विक प्रवचन (हिन्दी, गुजराती)
१६. मानसमें नाम-वन्दना
१७. वास्तविक-सुख
१८. भगवन्नाम (हिन्दी, अँग्रेजी)
१९. कर्म-रहस्य (हिन्दी, तमिल)
२०. गृहस्थमें कैसे रहें ? (हिन्दी, अँग्रेजी, मराठी, बँगला)
२१. भगवान्‌से अपनापन
२२. जीवनका सत्य
२३. भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
२४. स्वाधीन कैसे बनें ? (हिन्दी, अँग्रेजी)
२५. शरणागति
२६. सत्संगका प्रसाद
२७. अच्छे बनो
२८. जीवनका कर्तव्य
२९. जीवनोपयोगी कल्याणमार्ग
३०. सच्चा आश्रय
३१. नाम-जपकी महिमा
३२. मूर्ति-पूजा (हिन्दी, बँगला)
३३. हम ईश्वरको क्यों मानें ? (हिन्दी, बँगला)
३४. दुर्गतिसे बचो (हिन्दी, बँगला)
३५. साधन और साध्य
३६. मातृशक्तिका घोर अपमान
३७. जिन खोजा तिन पाइया
३८. किसानोंके लिये शिक्षा
३९. तत्त्वज्ञान कैसे हो ?

—★—